

ॐ साब्रवीत् – अहं ब्रह्मस्वरूपिणी । मत्तः  
प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत् । शून्यं चाशून्यं च ॥ २ ॥  
( श्रीदेव्यथर्वशीर्षम् )

# साङ्ख्यशास्त्रीय प्रमाणमीमांसा

(साङ्ख्यकारिका की टीका-परम्परा में प्रमाण स्वरूप विमर्श)



एम.फिल.- संस्कृतम् की उपाधि

हेतु प्रस्तुत

लघु-शोध-प्रबन्ध

शोध-पर्यवेक्षक  
डॉ. विश्वबन्धु ,  
संस्कृतविभाग

शोधार्थी

कल्लू

एम.फिल.- संस्कृतम्

नामाङ्कन संख्या-En16-00034

भाषा, साहित्य एवं कला प्राध्ययन केन्द्र  
साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय  
बारला, रायसेन (म.प्र.)

2021

## शोधार्थी द्वारा घोषणा-पत्र

मैं एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि यह शोधकार्य “साङ्ख्यशास्त्रीय प्रमाणमीमांसा (साङ्ख्यकारिका की टीका-परम्परा में प्रमाण स्वरूप विमर्श)” डॉ. विश्व बन्धु (सहायक प्राध्यापक, भाषा साहित्य एवं कला प्राध्ययन केन्द्र ) के मार्गदर्शन में किया है।

मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार इस लघु-शोध-प्रबंध में किसी भी प्रकार का कोई ऐसा तथ्य उद्धृत नहीं किया गया जो इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य विश्वविद्यालय के समक्ष किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया हो।

साथ में यह भी घोषणा करता हूँ कि -

1. मैंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम 2018 के मापदण्डों के अनुसार एक सत्र का कोर्स वर्क सफलतापूर्वक पूर्ण कर लिया है।
2. मैंने लघु-शोध-प्रबंध अंतिम रूप से जमा करने से पूर्व विभागीय शोध समिति के समक्ष प्रस्तुति भी दी है और दिए गये निर्देशों / सुझावों के आधार पर संशोधनों को सफलतापूर्वक शामिल किया है।
3. मैंने राष्ट्रीय संगोष्ठी में लघु-शोध-प्रबंध से सम्बन्धित एक शोध पत्र भी प्रस्तुत किया है जिसकी छायाप्रति लघु-शोध-प्रबंध के अन्त में संलग्न है।
4. मेरे द्वारा प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबंध में कोई भी सामग्री, किसी अन्य शोध से या किसी प्रकाशित सामग्री का हिस्सा नहीं है, यदि Plagiarism के अन्तर्गत कोई भी सामग्री पायी जाती है तो उसके लिए मैं स्वयं उत्तरदायी रहूँगा।

स्थान.....

शोधार्थी हस्ताक्षर

दिनांक.....

कल्लू  
(साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.)

## प्रमाण-पत्र

यह प्रमाणित किया जाता है कि लघु-शोध-प्रबंध जिसका विषय “साङ्ख्यशास्त्रीय प्रमाणमीमांसा (साङ्ख्यकारिका की टीका-परम्परा में प्रमाण स्वरूप विमर्श)” श्री कल्लू द्वारा किया गया शोध कार्य है, जिसे साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय में एम.फ़िल.- संस्कृतम् उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में पूर्ण किया गया है।

मेरी जानकारी के अनुसार

1. यह शोधार्थी का मौलिक कार्य प्रतीत होता है।
2. यह शोध कार्य यू.जी.सी. के दिशा निर्देशों को पूरा करता है।
3. विश्वविद्यालय की एम.फ़िल. से सम्बन्धित अध्यादेश की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

स्थान.....

हस्ताक्षर

दिनांक.....

शोध निर्देशक

## सर्वाधिकार

मैं, कल्लू एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि साँची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय, बारला, रायसेन द्वारा इस लघु-शोध-प्रबंध “साङ्ख्यशास्त्रीय प्रमाणमीमांसा (साङ्ख्यकारिका की टीका-परम्परा में प्रमाण स्वरूप विमर्श)” को शैक्षणिक/अनुसंधान उद्देश्य से इलेक्ट्रॉनिक या प्रिंट प्रारूप में उपयोग के अधिकार होंगे।

नोट – शोधार्थी अथवा अन्य के द्वारा लघु-शोध-प्रबंध के ऑकड़ो/ निष्कर्षों का प्रयोग व्यक्तिगत रूप किया जा सकेगा, बशर्ते कि यथा स्थान विश्वविद्यालय के सर्वाधिकार का उल्लेख किया जाए।

शोधार्थी हस्ताक्षर

स्थान.....

दिनांक.....

कल्लू

(साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि.)

## कार्तज्ञपुष्पाञ्जलि

---

सर्वप्रथम मैं आराध्या माता पीतम्बरा माँ एवं सिद्ध बाबा जी के चरण कमलों में पुष्पाञ्जलि पूर्वक नमन करता हूँ। जिनकी कृपा मात्र से ही इस शोध कार्य को पूर्ण करने में सफल हुआ हूँ।

इसी क्रम में कपिल मुनि को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने साङ्ख्यशास्त्र का वर्णन करके समस्त संसार के लिए मोक्ष ( कैवल्य ) के मार्ग को सुगम बनाया। प्रस्तुत लघु-शोध- प्रबन्ध अत्यन्त परिश्रम एवं लगन का कार्य है। जिस के लिए एक निश्चित योजना एवं मार्गदर्शन की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इस लघु-शोध-प्रबन्ध का कार्य स्वयं के सामर्थ्य से पूर्णता को प्राप्त नहीं हो पाता। अतः इस लघु-शोध-प्रबन्ध कार्य हेतु मेरे शोध-पर्यावेक्षक परमादणीय परम पूज्य गुरुवर आचार्य डॉ.विश्वबन्धु जी का सानिध्य व आशीर्वाद सदैव मुझे प्राप्त हुआ है जिससे मेरा लघु-शोध-प्रबन्ध का कार्य सफलता को प्राप्त हो सका। ऐसे श्रद्धेय गुरु के चरणों को मैं कोटी-कोटी नमन करता हूँ। संस्कृत एवं वैदिक अध्ययन विभाग के विभागाध्यक्ष एवं सहायक प्राध्यापक परमादणीय आचार्य डॉ. देवेन्द्र सिंह जी का मेरे शोध कार्य की पूर्ति में महनीय सहयोग रहा है। इसी क्रम में वैकल्पिक विभागाध्यक्ष परमादरणीय आचार्य डॉ. प्रभाकर पाण्डेय जी का तथा विश्वविद्यालय के समस्त शिक्षकों को भी धन्यवाद व सादर नमन करता हूँ।

अपने परम पूज्य श्रद्धेय पिता- श्री बृज कुमार शर्मा ,माता- श्रीमती सुमन देवी जी के चरणों में सादर प्रणाम करता हूँ। तथा परम पूज्य श्रद्धेय

गुरुवर डॉ. बृज गोपाल द्विवेदी, विसम्बर दयाल शास्त्री सहित समस्त गुरुजनों के चरणों में प्रणाम करता हूँ । तथा अग्रज सन्तोष कुमार दुबे ( सहायक अध्यापक ), असिस्टेंट प्रो.विद्या प्रकाश सिंह, रवि शंकर द्विवेदी, तथा गणमान्य मित्रों में बन्धुप्रिया, अजीत, आशीष, संदीप, नितिन कुमार गावकरे, राजेश रंजन त्रिपाठी एवं दीपक तिवारी आदि समस्त प्रिय मित्रों को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ । जिनके सहयोग से यह लघु-शोध-प्रबन्ध सम्पन्न हो सका ।

साँची विश्वविद्यालय में ग्रन्थालय विभाग के हरीश असाटी जी एवं प्रकाश मुकाती जी महोदय का मुझे ग्रन्थ उपलब्ध कराने एवं प्लेजरिजम् जाँच में महनीय सहयोग प्राप्त हुआ है । अतः ग्रन्थालय विभाग सहित विश्वविद्यालय परिवार के प्रत्येक सदस्य को आभार ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मुझे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया ।

धन्यवाद

कल्लू

(एम.फ़िल. - संस्कृतम्)

साँ.बौ.भा.ज्ञा.अ.वि. बारला, रायसेन

## सङ्केत-सूची

|               |                             |
|---------------|-----------------------------|
| सां.तत्त्वकौ. | - साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी       |
| मा.वृ.        | - माठरवृत्ति                |
| ज.मं.         | - जयमङ्गला                  |
| गौ.भा.        | - गौडपादभाष्य               |
| यु.दी.        | - युक्तिदीपिका              |
| सां. का.      | - साङ्ख्यकारिका             |
| सां,सू.       | - साङ्ख्यसूत्रम्            |
| न्या,म.       | - न्यायमञ्जरी               |
| श्लो.वा.      | - श्लोकवार्तिक              |
| वे.प.         | - वेदान्त परिभाषा           |
| न्या.सू.      | - न्यायसूत्रम्              |
| वा.भा.        | - वात्सायन भाष्य            |
| विद्वतो.      | - विद्वतोष्णीकार            |
| सां.प्र.भा.   | - साङ्ख्यप्रवचनभाष्यम्      |
| त.स.          | - तर्क सङ्ग्रह              |
| त.भा.         | - तर्कभाषा                  |
| क.व.          | - कारिकावली                 |
| भ.द.          | - भारतीय दर्शन              |
| भ.द.प.        | - भारतीय दर्शन मे प्रत्यक्ष |

## अनुक्रमणिका

पृ.सं.

वाङ्मुखम्

i-xxi

### प्रथम अध्याय

साङ्ख्यशास्त्रीय 'प्रमेय' निरूपण

1-47

क.) प्रमेय तत्त्वों का चतुर्विध वर्गीकरण

(१.) कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव

(२.) कश्चिदर्थो विकृतिरेव

(३.) कश्चित्प्रकृतिविकृतिः

(४.) कश्चिदनुभयरूपः

ख.) व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ निरूपण

(१.) व्यक्त

(१.१) महत् -

महत् लक्षण और स्वरूप निरूपण

महत् (बुद्धि) का स्वरूप- सात्त्विक बुद्धि ,बुद्धि का तामसिक स्वभाव निरूपण

(१.२) अहङ्कार - अहङ्कार का स्वरूप निरूपण, अहङ्कार के द्विविध सर्ग

(१.18) षोडशक गण

इन्द्रिय- बुद्धिन्द्रिय निरूपण कर्मेन्द्रिय निरूपण, मन-इन्द्रि पञ्चतन्मात्रा

(१.१९-२३) पञ्चमहाभूत

(२.) अव्यक्त

(३.) ज्ञ

### द्वितीय अध्याय

क.) प्रत्यक्ष लक्षण निरूपण

(१.) 'प्रत्यक्ष' रूप पौरुषेय बोध (प्रत्यक्ष प्रमा)

ख.) प्रत्यक्ष के भेद

(१.) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

(२.) सविकल्पक प्रत्यक्ष

ग.) बुद्धिवृत्ति और अध्यवसाय

घ.) प्रत्यक्ष बाधक हेतु

(१.) अतिदूरात्

(२.) सामीप्याद्

(३.) इन्द्रियघाता

(४.) मनोजनवस्थानात्

(५.) सौक्ष्म्यात्

(६.) व्यवधानाद्

(७.) अभिभवात्

(८.) समानाभिहारात्

### तृतीय अध्याय

क.) अनुमान लक्षण निरूपण

(१.) अनुमान का सामान्य अर्थ

(२.) अनुमिति निरूपण

(३.) त्र्यवयम्

ख.) त्रिविध अनुमान प्रमाण निरूपण

(१.) पूर्ववत् अनुमान

(२.) शेषवत् अनुमान

(३.) सामान्यतो दृष्ट 'अनुमान'

### चतुर्थ अध्याय

आप्त प्रमाण निरूपण

102-108

(१.) आप्त सामान्य परिचय

(२.) आप्त लक्षण और स्वरूप निरूपण

### पञ्चम् अध्याय

प्रमाणान्तरभाव निरूपण

109-129

(क) उपमान प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट

(ख) अर्थापत्ति प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट

(ग) सम्भव प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट

(घ) अभाव प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट

(ङ) ऐतिह्य प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट

(च) प्रतिभा और चेष्टा प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट

उपसंहार

130-132

सन्दर्भग्रन्थसूची

133-139

परिशिष्टम्

i-iv

वाङ्मुखम्

## वाङ्मुखम्

---

प्रमा के स्वरूप को लेकर भारतीय दर्शन में मतैक्य नहीं है। प्रत्येक दर्शन अपनी-अपनी तत्त्वमीमांसीय स्थापनाओं के अनुरूप ही प्रमा का स्वरूप करता है। सांख्यकारिका के अनुसार प्रमा बुद्धि का ऐसा विकार है जो अविपरीत, असंदिग्ध और अनधिगत विषय को प्रकट करता है। यथाहि –

“असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः, बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा ॥”  
(साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, साङ्ख्यकारिका, 4)

अन्यत्र भी कपिलमुनि ने प्रमा को नवीनता और निश्चयात्मकता से परिभाषित किया है। यथाहि-

“द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्” (साङ्ख्यसूत्रम्, 1/87)

न्यायमंजरी में जयन्त ने प्रमा के तीन लक्षण बतलाए हैं - अर्थोपलब्धि, असंदिग्ध और अव्यभिचारी। यथाहि –

“अव्यभिचारिणीम् असन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्, बोधाबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धि-साधनत्वं लक्षणम् ॥” (न्यायमञ्जरी, प्रमाणलक्षणम्, 2)

जयन्त भाट्ट मीमांसकों, बौद्धों और सांख्यों द्वारा बतलाए गए प्रमा के लक्षण अनधिगतत्व को नहीं स्वीकारते क्योंकि जयन्त के अनुसार प्रमा को अनधिगत बताना प्रमा की अव्याप्त परिभाषा है।

कुमारिल भट्ट “वैध ज्ञान” को इस प्रकार परिभाषित करते हैं -

तस्मात् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति।

ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयमान्। (श्लोकवार्तिक, 2/80)

भाट्टोम्बेक इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं यहाँ 'दृढ' प्रमा में 'सेदेह' के अभाव का द्योतक है तथा 'विसंवादमृच्छति' (जिसे वह 'नापि संवादमृच्छति' के स्थान पर प्रयोग करते हैं) का अर्थ है कि "जिसका किसी अन्य ज्ञान से बाध (खंडन) नहीं होता।" अबाधित होने कारण प्रमा भ्रम से भिन्न है क्योंकि भ्रमात्मक ज्ञान अपने परवर्ती ज्ञान से बाधित होता है। धर्मराज ध्वरीन्द्र ने "वेदान्त परिभाषा" में प्रमा की दो प्रकार की परिभाषाएँ दी हैं -

(1) स्मृति के अतिरिक्त अनधिगत और अबाधित विषयक ज्ञान ही प्रमा है।

यथाहि -

“तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम् । तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वमनधिगता-  
बाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् । स्मृतिसाधारणन्तु अबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम् ॥” (वेदान्त-  
परिभाषा, 2)

इस परिभाषा में ज्ञान की दो उपाधियाँ कही गई हैं-

(क) ज्ञान अनधिगत होता है अर्थात् “नवीनता” प्रमा की उपाधि हैं।

(ख) प्रमा अबाधित विषय का ज्ञान है। अबाधितत्व वह है जो अपने परवर्ती ज्ञान द्वारा खंडित न हो।

(2) प्रमा की दूसरी परिभाषा स्मृति को प्रमा की श्रेणी में रखकर की गई है। इस परिभाषा के अनुसार अबाधित विषय का ज्ञान प्रमा है।

क.) त्रिपुटी ज्ञान

साधारणतया ज्ञाता की चेतना में प्रकाशित विषय को ही 'बोध' की संज्ञा दी जाता है। प्रकृत स्वरूप में बोध वस्त्वात्मक है। ज्ञाता की चेतना में उपस्थित वस्तु ही बोध है।

इसके अतिरिक्त क्रिया भी बोध है जिसके अन्तर्गत कोई वस्तु ज्ञाता की चेतना में उपस्थित होती है। इस प्रकार बोध में तीन तत्त्व समाहित होते हैं- (अ) बोध की विषय वस्तु (ज्ञेय), (ख) बोध की क्रिया (ज्ञान), तथा (स) ज्ञाता ।

भारतीय परम्परा में बहुधा 'बोध' और 'ज्ञान' का प्रयोग पर्यायवाची पदों के रूप में किया जाता है । बोध या ज्ञान के संप्रत्यय को समझने के लिए 'त्रिपुटि ज्ञान' के संप्रत्यय को समझना होगा । "त्रिपुटी ज्ञान" का अर्थ है- 'ज्ञान के तीन संघटक तत्त्व - ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान । ये तीनों तत्त्व किसी भी बोध के लिए अपरिहार्य हैं। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है – घट-बोध' के संघटक तत्त्व है – (क) घट वस्तु - जिसका ज्ञान हो रहा है । इसे 'ज्ञेय' कहते हैं। (ख) ज्ञात - विषय (घट) को जानने वाला, तथा (ग) ज्ञान – साधन, जिससे ज्ञेय वस्तु बोध का विषय बनती है यथा प्रत्यक्ष आदि । इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान (प्रमाण) के सम्मिलित रूप को 'बोध' कहा जाता है। यथार्थवादी ज्ञान के इन तीन संघटक तत्त्वों-ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अथवा प्रमाण को परम्पर एवं दूसरे से स्वतंत्र मानते हैं जबकि प्रत्ययवादी ज्ञान के इन तीन संघटक तत्त्वों के बीच के भेद को पारमार्थिक अथवा चरम स्वीकार नहीं करते । प्रकाशित विषय यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी । उदाहरणार्थ जब 'रस्सी' का ज्ञान 'रस्सी-रूप' में ही होता है तो विषय का यह प्रकाशन यथार्थ है – “तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः” (तर्कसङ्ग्रह), किन्तु 'रस्सी' तद्रूप में प्रकाशित न होकर 'सर्प' रूप में प्रकाशित हो ,तो विषय का यह प्रकाशन अयथार्थ है – “तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः”

(तर्कसङ्ग्रह)। अतः प्रकाशित विषय यथार्थ और अयथार्थ दोनों ही हो सकता है। यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' और अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' भी कहा जाता है।

**ख.) साङ्ख्य मत में ज्ञान का स्वरूप**

'द्वय'तत्त्व की प्रतिपादना करने वाले साङ्ख्य दर्शन के अनुसार 'पुरुष' चैतन्य स्वरूप और प्रकृति जड है। तदनुसार 'ज्ञान' बुद्धि या चित्त का धर्म हैं। पुनः बुद्धि जड प्रकृति का परिणाम है। इस प्रकार साङ्ख्य मतानुसार ज्ञान अथवा बोध प्रकृति का धर्म है। अवधेय है कि साधारणतया ज्ञान का संबंध चेतना से ही जोड़ा जाता है। जडभूत ज्ञान की सङ्कल्पना अमान्य है। साङ्ख्य मत में 'ज्ञान' अथवा 'बोध' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है- (क) पारमार्थिक अर्थ में, (ख) व्यावहारिक अर्थ में। पारमार्थिक अर्थ में 'ज्ञान' 'शुद्ध चैतन्य' है जो पुरुष का स्वरूप लक्षण है। यथाहि -

“तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।

कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥” (साङ्ख्यकारिका , 19)

इस रूप में ज्ञान 'द्रव्य' है। व्यावहारिक अर्थ में ज्ञान उस बुद्धि अथवा चित्त का 'धर्म' अथवा गुण है जो बुद्धि, चित्त अथवा प्रकृति का परिणाम है। यथाहि -

“अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।

सात्त्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥” (साङ्ख्यकारिका , 23)

इस रूप में ज्ञान 'गुण' अथवा 'धर्म' है। द्रव्य-रूप में ज्ञान एक स्थायी सत्ता है। इस रूप में यह न कभी उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान एक प्रकार की 'चित्तवृत्ति' है। यह चित्तवृत्ति अथवा ज्ञान शाश्वत न होकर 'उत्पन्न होती है अथवा 'नष्ट' भी होती है।

साङ्ख्य दार्शनिक व्यावहारिक ज्ञान की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इन्द्रिय के द्वारा विषय का संबंध मन से होता है। मन विषय को बुद्धि ग्राह्य बनाता है। विषय के सम्पर्क में बुद्धि विषयाकाराकारित होती है। बुद्धि का विषयाकाराकारित हो जाना 'वृत्ति' कहलाता है। बुद्धि का यहीं अर्थाकार परिणाम का नाम ज्ञान है किन्तु यह वृत्ति 'उपलब्धि' नहीं है। वृत्त्यात्मक ज्ञान के प्रतिबिम्ब का नाम 'विषयोपलब्धि' है। यह 'वृत्ति' जब तक प्रकाशित नहीं होती तब तक विषय का 'बोध' ज्ञात नहीं होता। इस प्रकार साङ्ख्य मत में विषय-बोध और विषयोपलब्धि न्याय मत के समान समानार्थक नहीं है, प्रत्युत इन दोनों में भेद है।

'वृत्ति' के इस प्रतिबिम्ब की व्याख्या में साङ्ख्य दार्शनिक बुद्धि की त्रिगुणात्मिका का निरूपण करते हैं। बुद्धि में सतोगुण का प्राधान्य है। इसी प्राधान्य के कारण बुद्धि में ही यह सामर्थ्य है कि बुद्धि पुरुष को प्रतिबिम्बित करती है। पुरुष का यह प्रतिबिम्ब ही साक्षी चैतन्य है, जो द्रष्टा भाव से (अकर्ता अभोक्ता भाव से) विषय को देखता है। इस प्रकार साङ्ख्य मतानुसार व्यवहारिक ज्ञान में भी पुरुष की भागीदारी होती है। यथाहि –

“..तत्र चेतनत्वेनाविषयत्वेन च साक्षित्व-द्रष्टृत्वे दर्शिते , चेतनो हि द्रष्टा भवति नाचेतनः, साक्षी च दर्शितविषयो भवति, यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स साक्षी, यथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयत एवं प्रकृतिरपि स्वचरितं विषयं पुरुषाय दर्शयतीति पुरुषः साक्षी, नाचेतनो विषयो वा शक्यो विषयं दर्शयितुमिति चैतन्यादविषयत्वाच्च भवति साक्षी, अत एव द्रष्टापि भवति ॥” (साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, साङ्ख्यकारिका, 19)

कुछ विद्वान् साङ्ख्यशास्त्रीय ज्ञानमीमांसा पर प्रश्न करते हैं कि वस्तुतः 'पुरुष के बुद्धि में प्रतिबिम्बित' होने की कल्पना पुरुष के द्रष्टा-भाव के निरूपण के लिए की गई है। किन्तु पुरुष के द्रष्टा-भाव का निरूपण तो पुरुष की बुद्धि में विषय के प्रतिबिम्बित हुए बिना भी

हो सकता है। यदि पुरुष स्वरूपतः 'ज्ञाता है तो वह वस्तुओं का ज्ञान वस्तुओं के बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुए बिना भी प्राप्त कर सकता है। बोध विषयक इस सांख्य मत को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं -

1.) ज्ञान बुद्धि का अर्थाकार परिणाम है अथवा 'पुरुष का स्वरूप' है ?

प्रथम अर्थ में ज्ञान गुण है तथा दूसरे अर्थ में द्रव्य। इस समस्या का समाधान ज्ञान के पारमार्थिक और व्यावहारिक भेद के आधार पर भी ढूँढा जा सकता है। किन्तु इस समाधान में भी कठिनाई है। प्रथमतः ज्ञान में परमार्थ और व्यवहार का भेद मान लेने से सांख्य और अद्वैतवेदान्त का भेद नष्ट होता है।

2.) पुनः सांख्य जिस प्रकार ज्ञान के उत्पत्ति की व्याख्या 'चित्तवृत्ति की प्रकाशना' के रूप में करते हैं वह व्याख्या ज्ञानमीमांसा पर आश्रित न होकर तत्त्वमीमांसा पर अधिक आश्रित प्रतीत होती है।

3.) सांख्य दर्शन की मान्यता में विरोध स्पष्ट है। यह स्वीकार करना कि पुरुष चेतन है और चेतन का कोई विषय नहीं, विरोधी है। यदि चेतना है तो अवश्य ही सविषयक होगी। सांख्य के अनुसार चेतना को निर्विषयक माना गया है।

किन्तु बुद्धि के प्रत्येक अर्थाकार परिणाम को 'यथार्थ' नहीं कहा जा सकता। यह प्रमा और अप्रमा रूप दोनों हो सकता है। वाचस्पति मिश्र ने 'प्रमा' के दो अर्थ बतलाएँ हैं- (क) मुख्य अर्थ में 'बुद्धि-वृत्ति' प्रमा है, तथा (ख) गौण अर्थ में 'पुरुष का बोध' प्रमा है। सांख्य मत में ज्ञान अथवा वृत्ति के पाँच भेद बतलाए गये हैं- (क) प्रमा, (ख) विषय्य (भ्रम), (ग) संशय अथवा विकल्प, (घ) स्पष्ट, (ङ.) स्मृति। पुनः प्रमा अथवा प्रमाण के तीन भेद हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। जिस ज्ञान में बुद्धि वस्तु का रूप धारण करती है। (अर्थात्

इन्द्रिय-ज्ञान) वह ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान' कहलाता है। व्याप्य को देखकर व्यापक का ज्ञान (धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान)" अथवा लिंग से लिंगि का ज्ञान अनुमान है। आसोपदेश शब्द है।

### ग.) न्याय-वैशेषिक मत

न्याय मत में ज्ञान, बोध, बुद्धि, उपलब्धि, संवेदना, संवित्, प्रत्यय, प्रतीति को पर्यायवाची कहा गया है। वैशेषिक मत भी इन पदों को समानार्थक कहता है। प्रशस्तपाद 'ज्ञान' 'बुद्धि', उपलब्धि' के अतिरिक्त 'प्रत्यय' को भी विशेषयता उद्धृत करते हैं। वैशेषिक मतावलम्बी बुद्धि को 'गुण' निरूपित करते हैं। न्याय मत भी ज्ञान को 'गुण' स्वीकार करता है। न्याय मतानुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। न्याय सूत्रकार गौतम ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान के आश्रय को आत्मा कहा है। यथाहि –

“इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि “आत्मनो लिङ्गम्” इति ” (न्यायसूत्रम्, 10)

न्याय दर्शन में आत्मा एक प्रमेय पदार्थ है। नैयायिकों के अनुसार आत्मा दो प्रकार की है – ईश्वर और जीव; इसमें ईश्वर एक है, जीव अनेक। ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ। विभु और नित्य दोनों हैं। दोनों ही अप्रत्यक्ष अर्थात् अनुमेय हैं। यद्यपि एकता और अनेकता आदि कुछ मौलिक भेद के कारण आत्मा और ईश्वर को पृथक् द्रव्य मानने के तर्क दिए जा सकते हैं, किन्तु नैयायिकों ने ज्ञानाश्रय के रूप में दोनों को एक द्रव्य के रूप में ही स्वीकार किया है। अन्नम भट्ट ने तर्कसंग्रह में आत्मा (द्रव्य) को ज्ञान का अधिकरण कहा है। तर्कसंग्रह ज्ञान को 'गुण' प्रतिपादित करता है। तर्कभाषा में केशव मित्र ने भी ज्ञान को 'गुण' ही कहा है।

न्याय मत के अनुसार ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है। ज्ञान गुण आत्मा गुणी में समवाय सम्बन्ध से रहता है। समवाय नित्य सम्बन्ध है। ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध

नदी और नाव के अनित्य संयोग सम्बन्ध से भिन्न है । इसकी विशेषता यह है कि यह ज्ञाता आत्मा की सांसारिक स्थिति में सर्वदा विद्यमान रहता है । आत्मा में ज्ञान गुण तभी उत्पन्न होता है, जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से तथा इन्द्रिय का विषयों से सम्पर्क होता है । यहीं व्यावहारिक या सांसारिक ज्ञान का स्वरूप है । इसके लिये शरीर से संयोग की अपेक्षा है । शरीर संयोग के कारण ही ज्ञान नामक आगन्तुक गुण उत्पन्न होता है । यह आत्मा का अपरिहार्य गुण नहीं है; क्योंकि अशरीरी अवस्था में आत्मा में ज्ञान नहीं रहता । इस प्रकार आत्मा की दो अवस्थायें हैं – ज्ञानयुक्त अवस्था और ज्ञानमुक्त अवस्था । 'ज्ञान का उदय होता है अथवा 'ज्ञान का अभाव' भी होता है। न्याय मत में ज्ञान न तो स्वतः प्रामाण्य है और न ही स्वतः प्राकाश्य । ज्ञान की सत्यता-असत्यता भी ब्राह्म कारणों से उत्पन्न होती है और ज्ञान की सत्यता-असत्यता भी ब्राह्म कसौटियों के द्वारा ही निर्धारित की जाती है ।

न्याय मत के अनुयायियों में ज्ञान के वर्गीकरण के विषय में मतैक्य नहीं है । विद्वानों के मतानुसार महर्षि गौतम के न्यायसूत्र अथवा वात्स्यायन-भाष्य में भी ज्ञान का कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं मिलता । न्याय मत के आधुनिक अध्येयताओं ने न्याय तथा वैशेषित मत के विविध ग्रंथों के आधार पर मुख्यतः दो प्रकार से न्याय मत द्वारा ज्ञान के वर्गीकरण का निरूपण किया इनमें एक मत श्री सतीशचन्द्र चटर्जी तथा उनके समर्थकों का है तथा दूसरा मत डॉ. श्रीनारायण मिश्र तथा उनके समर्थकों का है। श्री सतीशचन्द्र चटर्जी के अनुसार न्याय मत में ज्ञान दो प्रकार के हैं-अनुभूति और स्मृति रूप । इनमें अनुभूति के दो प्रकार हैं – प्रमारूपा और अप्रमा रूप। स्मृति प्रमा और अप्रमा की कोटि के बाहर है। पुनः स्मृति दो प्रकार की हो सकती है - यथार्थ एवं अयथार्थ । इसी भाँति प्रमा के चार प्रकार हैं - प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द । अप्रमा के तीन रूप हैं- संशय,

विषय और तर्क। श्री नारायण मिश्र के मतानुसार श्री चटर्जी प्रदत्त न्याय मत के इस वर्गीकरण में दोष है क्योंकि न्याय मतानुसार स्मृति को अप्रमा की कोटि से बाहर नहीं रखा जा सकता। श्री मिश्र के अनुसार न्याय मत में स्मृति अप्रमा है।

#### घ.) मीमांसा मत

मीमांसा दर्शन में दो प्रस्थान विख्यात हैं - प्राभाकर मीमांसा तथा भाट्ट मीमांसा । प्राभाकर मत के प्रवर्तक प्राभाकर मिश्र तथा भाट्ट मत के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट हैं। मीमांसा मत के ये दोनों ही प्रस्थान अपनी अपनी प्रतिपत्तियों को जैमिनीप्रणीत मीमांसासूत्र के शाबरभाष्य पर आधारित करते हैं । शाबरभाष्य की पृथक्-पृथक् विवेचनाओं के कारण इन दोनों मतों में मौलिक भेद दृष्टिगोचर होते हैं । दोनों प्रस्थानों की ज्ञानमीमांसा में भी भेद दृष्टिगोचर होता है ।

#### प्राभाकर मत

आचार्य प्राभाकर ज्ञान को आत्मा का कर्म (क्रिया) स्वीकार करते हैं । वे यह भी स्वीकार करते हैं कि क्रिया अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं । आचार्य प्राभाकर ज्ञान को आत्मा का गुण भी स्वीकार करते हैं । आचार्य प्राभाकर के अनुयायियों का कहना है कि ज्ञान आत्मा के नौ गुणों में से एक है । इस प्रकार आचार्य प्राभाकर और न्याय के मत में समानता है । नैयायिकों की भाँति प्राभाकर भी ज्ञान अथवा बोध को 'अनुभूत' के पद में ही परिभाषित करते हैं । नैयायिकों की ही भाँति मीमांसा मत भी यथार्थवादी है । मीमांसा मत भी यह मानता है कि ज्ञेय की सत्ता ज्ञाता से स्वतंत्र है तथा ज्ञेय (विषय) ज्ञाता की चेतना में उसी रूप में उपस्थित होता है जैसा कि वह है।

अपने इसी ज्ञानमीमांसा के यथार्थवाद के कारण प्राभाकर मीमांसक प्रत्येक ज्ञान अथवा बोध को अनिवार्यतः सत्य मानते हैं । यही कारण है कि ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में प्राभाकर स्वतः प्रामाण्यवाद का समर्थन करते हैं तथा यह कहते हैं कि प्रत्येक स्वरूपः सत्य होता है तथा इस ज्ञान की सत्यता भी स्वतः प्रकाश्य ही होती है।

प्राभाकर मीमांसक भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाँति प्रमा और अप्रमा में भेद करते हैं। प्राभाकर मत में “प्रमा” अनुभूतिजन्य ज्ञान है। प्राभाकर मीमांसा के मत में अनुभूतिजन्य ज्ञान ‘साक्षात् ज्ञान’ है। ‘अनुभूति’ का अर्थ ज्ञानेन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय प्रसूत ज्ञान से भिन्न होता है। यहाँ अनुभूत का अर्थ वैसा ज्ञान है जो साक्षात् विषय से उत्पन्न हो । दूसरी ओर “अप्रमा” असाक्षात् ज्ञान है। यह ज्ञान ‘साक्षात् विषय द्वारा उत्पन्न ज्ञान’ नहीं वरन् विषय की स्मृति से उत्पन्न अवबोध’ रूप है। इसी अर्थ में यहाँ स्मृतिजन्य ज्ञान को अप्रमा रूप कहा गया है ।

वस्तुतः प्राभाकर मीमांसक ज्ञान के दो भेद करते हैं – भाव रूप ज्ञान और अभाव रूप ज्ञान । भावरूप ज्ञान के पुनः दो भेद हैं - साक्षात् ज्ञान अथवा अनुभूत ज्ञान और असाक्षात् ज्ञान अथवा अननुभूत ज्ञान अथवा स्मृति । पुनः साक्षात् ज्ञान के पाँच भेद हैं - प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी प्रमा तथा अर्थपत्ति तथा असाक्षात् ज्ञान के अन्तर्गत स्मृति, संशय और स्वप्न रखे जाते हैं। साक्षात् ज्ञान को प्रमा रूप माना गया है तथा असाक्षात् ज्ञान को अप्रमा रूप कहा गया है ।

### भाट्टमत

आचार्य कुमारिल ज्ञान को आत्मा का धर्म बतलाते हैं । यह धर्म क्रियारूप है । अतः ज्ञान क्रिया है । आत्मा में जब ज्ञानरूप क्रिया उत्पन्न होती है, तभी हमें विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है । जिस प्रकार पाक एक क्रिया है, जिससे चावल पकता है । चावल का पकना पाक-क्रिया का फल है ; क्योंकि फल के बिना क्रिया नहीं हो सकती । इसी प्रकार ज्ञान रूपी क्रिया का फल विषय-ज्ञान है । परन्तु ज्ञान को आत्मा का धर्म मानने से गुण का भी बोध होता है । परन्तु मीमांसा दर्शन ज्ञान को गुण न मानकर कर्म स्वीकार करता है । उदाहरणार्थ “दाह” अग्नि का धर्म है, ज्वलन अग्नि का कार्य है, परन्तु लालिमा

एक गुण है। सुख, दुःख आदि आत्मा के गुण हैं, जो आत्मा में सर्वदा निवास करते हैं। परन्तु ज्ञान आत्मा की आगन्तुक क्रिया है।

प्राभाकारों की भाँति भाट्ट मीमांसक भी ज्ञान को साक्षात् और असाक्षात् पदों में परिभाषित करते हैं। साक्षात् ज्ञान अनुभूतिजन्य ज्ञान है और असाक्षात् ज्ञान स्मृतिजन्य ज्ञान है। “स्मृतिजन्य ज्ञान” ज्ञान का अवैध रूप है। इस अर्थ में स्मृतिजन्य ज्ञान अप्रमा रूप है। पुनः समस्त साक्षात् ज्ञान भी प्रमा अथवा वैध नहीं है। प्रमा रूप ज्ञान के चार लक्षण भाट्ट मीमांसक बतलाते हैं- (क) प्रमा रूप ज्ञान विषय के द्वारा उत्पन्न होता है (स्मृति तथा स्वप्न इसी रूप में प्रमा नहीं है क्योंकि ये विषय द्वारा उत्पन्न नहीं हैं), (ख) प्रमा रूप ज्ञान निश्चित (दृढ) होता है (संशय इसी अर्थ में प्रमा नहीं है क्योंकि संशय में निश्चयात्मकता का अभाव होता है), (ग) प्रमा रूप ज्ञान अबधित अथवा अविसंवादी होता है (भ्रम इसी रूप में प्रमा नहीं है क्योंकि वह परवर्ती बोध के द्वारा बाधित हो जाता है।), तथा (घ) प्रमा रूप ज्ञान 'अगृहितग्राही' अथवा अनधिगत होता है (अनुवाद अथवा संवाद इसी अर्थ में प्रमा नहीं है क्योंकि इसमें नवीनता का भाव होता है। स्मृति भी इसी कारण से अप्रमा कही जाती है।)

इस प्रकार भाट्ट मीमांसको के अनुसार ज्ञान प्रमा और अप्रमा रूप है। प्रमा रूप के छः भेद हैं - प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी प्रमा, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। अप्रमा रूप ज्ञान पाँच प्रकार के हैं - स्मृति, स्वप्न, संशय, विषयय (भ्रम) तथा संवाद (अनुवाद)।

प्राभाकर और भाट्ट मीमांसकों की बोध विषयक अवधारणा में मुख्य भेद यह है कि प्राभाकर मीमांसक अप्रमा को अज्ञान (ज्ञान का अभाव) कहकर इसे ज्ञान अथवा बोध

की कोटि से बाहर करते हैं जबकि भाट्ट मीमांसक अप्रमा को 'बोध अथवा ज्ञान के अभाव' के पद में परिभाषित न करके इसे 'अयथार्थ ज्ञान' के पद में परिभाषित करते हैं।

### ड.) वेदान्त मत

वेदान्त मत आत्मा को स्वरूप चैतन्य तथा परमतत्त्व मानता है। इसी आलोक में वेदान्त के मतानुसार ज्ञान और आत्मा में अभेद है। ज्ञान ही परमतत्त्व है। इस रूप में ज्ञान को गुण सम्बन्ध आदि की अपेक्षा 'द्रव्य' ही कहा जाना चाहिए। वेदान्त के अनुसार एक मात्र तत्त्व आत्मतत्त्व है, जिसे परम द्रव्य भी कहते हैं। इसके अनुसार सत् तो केवल आत्मा ही है, आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी है असत् है। यह आत्मा शुद्ध चेतना है। अतः इसे चिद्रूप कहा जाता है। आत्मा और चेतना दोनों में अभेद या तादात्म्य है। इस प्रकार चेतना या ज्ञान ही आत्मा है तथा आत्मा ही चेतना या ज्ञान है। प्रस्तुत तथ्य को इस रूप में भी प्रतिपादित किया जा सकता है कि सत् बोधरूप है तथा बोधरूपता ही सत्ता है।

वेदान्त मत में ज्ञान स्वयं को भी प्रकाशित करता है और पर-विषय को भी प्रकाशित करता है। इस प्रकार ज्ञान प्रत्यक् और पराक् दोनों है। ज्ञान स्वयंप्रकाश्य है, इस रूप में ज्ञान प्रत्यक् है। साथ ही अपने से भिन्न वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इस रूप में ज्ञान 'पराक्' है। अद्वैत वेदान्त के मत से तो ब्रह्म, जीव और तात्त्विक अभेद है। इस रूप में पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान में 'स्व' और 'पर' 'प्रत्येक' और 'पराक्' ही नहीं होता, किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से प्रत्यक् और पराक् का भेद किया जा सकता है।

वेदान्त मत में आत्मा स्वरूप चैतन्य है। इस दृष्टि से आत्मा में कभी भी ज्ञान का अभाव नहीं होता। माया बंध अथवा अन्य कारणों से जीव का चैतन्य स्वरूप अथवा जीव का स्वभाविक ज्ञान बाधित होता है, जिसे 'अज्ञान' की संज्ञा दी जा सकती है। इस बात

को सूर्य के प्रकाश की उपमा से समझा जा सकता हैं सूर्य का प्रकाश सर्वव्यापी है किन्तु अधेरे कमरे अथवा अंधगुहा में उसका प्रवेश नहीं हो पाता क्योंकि यहाँ प्रकाश के मार्ग में अनेक रुकावटे है। किन्तु इससे सूर्य के आलोक की सर्वव्यापकता या स्वयंप्रकाशत्व बाधित नहीं होती। इसी भाँति ज्ञान अथवा चैतन्य स्वरूप आत्मा सर्वज्ञ है किन्तु अनेक प्रकाश से बाधित होने पर कहीं-कहीं अथवा कभी-कभी यहाँ 'ज्ञान का अभाव' प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार वेदान्त मत के अनुसार अज्ञान 'बाधित ज्ञान' है। साथ ही तात्त्विक अर्थ में अज्ञान की कोई सत्ता नहीं।

पुनः वेदान्त मत भी प्रमा-अप्रमा का भेद करता है। प्रमा वैध ज्ञान है, अप्रमा अवैध अथवा अयथार्थ ज्ञान है। वेदान्त परिभाषा में प्रमा के दो लक्षण मतलाए गए हैं- अबाधितत्व और अनधिगतत्व। किन्तु यहाँ स्मृति को भी प्रमा स्वरूप ही स्वीकार किया गया है।

अद्वैत वेदान्त परामार्थिक और व्यवहारिक ज्ञान का भी भेद करता है। पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान में ज्ञाता-ज्ञेय का अभेद होता है किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से ज्ञान सदैव त्रिपुटीयुक्त है अर्थात् व्यवहारिक ज्ञान दृष्टि से ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद सदैव बना रहता है।

#### च.) ज्ञान क्या है ?

ज्ञान के संदर्भ में प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान किस कोटि की सत्ता है। भारतीय परम्परा में ज्ञान की व्याख्या निम्नलिखित चार रूपों में की गई है -

ज्ञान द्रव्य है- इस मत के समर्थक वेदान्ती और सांख्य दर्शनावलम्बी हैं। इस मत के अनुसार 'आत्मा' अथवा 'पुरुष' ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान को 'द्रव्य' कहने का अर्थ यह नहीं है

कि ज्ञान आत्मा, पुरुष ब्रह्म से भिन्न कोई तत्त्व है वरन् इस मत के अनुसार आत्मा, पुरुष अथवा ब्रह्म स्वयं ज्ञान स्वरूप ही है। यथाहि -

“सत्तैव बोधः बोध एव च सत्ता नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्ति”

(ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, 3/2/27)

तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म और ज्ञान में अभेद है। जो ब्रह्म है वही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही ब्रह्म है। यह ज्ञान सबको धारण करता है किन्तु उसका कोई अन्य अधिष्ठान नहीं। यह ज्ञान सबको प्रकाशित करता है। इस दृष्टि से ज्ञान स्वतः प्रामाण्य और स्वतः प्राकाश्य है।

ज्ञान गुण है- ज्ञान को 'गुण' कहने वाले दार्शनिकों को भी दो वर्गों में रखा जा सकता है- प्रथम वर्ग उन विद्वानों का है जो चेतना अथवा ज्ञान को द्रव्य का आगन्तुक लक्षण कहते हैं तथा दूसरा वर्ग उन दार्शनिकों का है जो ज्ञान अथवा चेतना को द्रव्य का स्वरूप लक्षण कहते हैं। इनमें से प्रथम वर्ग में चार्वाक, न्याय, वैशेषिक तथा प्राभाकर मीमांसक आते हैं तथा द्वितीय वर्ग में जैन तथा विशिष्टद्वैती रामानुजाचार्य का सम्प्रदाय आता है।

न्याय-वैशेषिक मत आत्मा को पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। वैशेषिक मत में आत्मा द्रव्य है और ज्ञान इसका गुण। न्याय मत भी ज्ञान अथवा चेतना को पदार्थ रूपी आत्मा का गुण ही कहता है। किन्तु इस मत में ज्ञान अथवा चेतना को आत्मा का स्वरूप लक्षण न कहकर आगन्तुक गुण कहा गया है। न्याय के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान दोनों परतोग्राह्य है। वस्तुवादी न्याय के अनुसार वस्तु की सत्ता तो ज्ञान की पूर्व मान्यता है। ज्ञान सविषयक होता है, निर्विषयक नहीं। घट के रहने पर ही घट-ज्ञान हो सकता है। अतः घट वस्तु की सत्ता तो घट ज्ञान की पूर्वमान्यता है। न्याय प्राभाकर मत में चैतन्य के अधिष्ठान के रूप में आत्मा को स्वीकार किया गया है। यह आत्मा स्वयं में चैतन्य स्वरूप नहीं है। जब विषय, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि के साथ आत्मा का सम्पर्क होता है तभी आत्म में ज्ञान अथवा चैतन्य रूपी गुण की उत्पत्ति होती है।

सुषुप्ति, मुर्छा आदि की स्थितियों में चेतना का अभाव यह सिद्ध करता है कि चेतना अथवा ज्ञान आत्मा का स्वरूप लक्षण न होकर आगन्तुक लक्षण है।

ज्ञान क्रिया है- इस मत के समर्थन भाट्ट, मीमांसक है। भाट्ट, मीमांसा के अनुसार ज्ञान न तो द्रव्य है, न ही यह गुण है। इस मत के अनुसार ज्ञान क्रिया है जिसका कर्ता आत्मा है। मैं जानता हूँ।" जैसे वाक्यों से स्पष्ट है कि ज्ञान क्रिया है। कुमारिल भाट्ट ने ज्ञान को आत्मा का 'धर्म' भी कहा है किन्तु यहाँ 'धर्म' पद का प्रयोग 'गुण' के अर्थ में न होकर क्रिया के अर्थ में ही हुआ है। पार्थसारथी मिश्र ने ज्ञान को सकर्मक क्रिया' कहा है। ज्ञान का विषय ही ज्ञान का कर्म हैं जैसे 'मैं पुस्तक को जानता हूँ यहाँ मैं कर्ता हूँ, पुस्तक कर्म तथा 'ज्ञान' क्रिया है।

#### छ.) प्रमाण

प्रमा से जुड़ा एक महत्वपूर्ण संप्रत्यय 'प्रमाण' का है। 'प्रमाण' शब्द 'करण' (साधन) अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - 'प्रमीयतेऽनेन तत् प्रमाणम्' अर्थात् 'जिससे प्रमा या प्रमिति हो, वह प्रमाण है।' भारतीय दर्शन में 'प्रमाण' को तीन अर्थों में व्यवहृत किया गया है (क) 'प्रमा' के पर्यायवाची अर्थ में (ख) प्रमा के साधन (करण) के रूप में ; तथा (ग) प्रमा के कारण के अर्थ में । "प्रमा" का सङ्क्षिप्त वर्णन किया जा चुका है । द्वितीय और तृतीय अर्थ में 'प्रमाण' प्रमा का 'करण' (साधन) अथवा 'कारण' है । भारतीय दर्शन में प्रमा के जनक को प्रमाण कहा जाता है। इस अर्थ में प्रमाण प्रमा का उत्पादक है। प्रमाण के इस अर्थ के अनुसार प्रमाण के अभाव के अभाव में प्रमा की उत्पत्ति संभव नहीं । न्यायवार्तिक में प्रमाण को प्रमाता और प्रमेय की अपेक्षा

अधिक महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि यदि प्रमाण न हो तो प्रमाता प्रमेय को जाना नहीं जा सकता है। यथाहि –

“प्रमेयादीनां तावत्पदार्थानां तत्त्वज्ञानं प्रमाणतत्त्वज्ञानाधीनम् । न हि प्रमाणं तत्त्वेनानवधारितं बोधकत्वमात्रेण स्वगोचरावधारणायालम् ॥”  
(न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1/1/1)

कुमारिल भट्ट के अनुसार अज्ञात अर्थ (विषय) के ज्ञापक को प्रमाण कहते हैं।

“अनधिगतार्थगन्तु प्रमाणमिति भाट्टमीमांसका आहुः ॥” (शास्त्रदीपिका)

अन्यत्र प्रमाण के विषय में कहा गया है कि जो विज्ञान अर्थात् अर्थ (विषय) का बोधक है, निश्चित बाधरहित तथा लोकसम्मत है वह 'प्रमाण' है। यथाहि –

“तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥” (अप्राप्तसन्दर्भ, श्लोकोऽयं मीमांसकोक्तत्वेन उपलभ्यते)

भाट्ट मीमांसकों की भाँति प्राभाकर मीमांसकों ने “अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः” (सर्वमतसङ्ग्रह, अप्राप्तसन्दर्भ) के माध्यम से प्रमाण का लक्षण करते हुए प्रमाण को अज्ञात अर्थ (विषय) का बोधक कहा तथा इसी गुण के अभाव में 'स्मृति' को प्रमाण की कोटि से बहिष्कृत किया।

मीमांसकों की भाँति बौद्धों ने भी “अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति” लक्षण के माध्यम से प्रमाण को 'अज्ञात अर्थ का ज्ञापक' कहा।

साङ्ख्यकारिका में प्रमाण को परिभाषित किया गया है कि जिससे प्रमेय की सिद्धि हो, वह प्रमाण है। यथाहि –

“....त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥” (साङ्ख्यकारिका, 4)

वाचस्पति मिश्र ने भी प्रमाण को प्रमा के साधन रूप में ही स्वीकार किया है। यथाहि –

“अत्र च प्रमाणमिति समाख्या लक्ष्यपदं, तन्निर्वचनं च लक्षणं, प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वमवगम्यते । असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः, बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा । तत्साधनं प्रमाणमिति ॥” (साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, साङ्ख्यकारिका, 4) अर्थात् जिससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रमाण है। यह संदेहरहित, अविपरीत, अनधिगत विषय में उपस्थित चित्तवृत्ति है। पुरुष को होने वाला प्रकाश रूप बोध प्रमाण का फल है, जिसे प्रमा कहते हैं और प्रमा का साधन प्रमाण है।

साङ्ख्य शास्त्र मुख्यतः प्रमेयशास्त्र है, इसलिए प्रमेयों की सिद्धि हेतु प्रमाणों की चर्चा आवश्यक हो जाती है तथा तत्त्व के अस्तित्व एवं स्वरूप के निर्धारण के लिए प्रमाणों की विवेचना प्रासङ्गिक हो जाती है । प्रायः सभी साङ्ख्यशास्त्रीय टीकाकार यह स्वीकार करते हैं कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से ही होती है। साङ्ख्यशास्त्र केवल तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है । यथाहि –

“दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥” (साङ्ख्यकारिका ,4)

<साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी “...तिस्रो विधा यस्य प्रमाणसामान्यस्य तत् त्रिविधं, न न्यूनं नाप्यधिकमित्यर्थः ॥”>

अन्य दर्शनों द्वारा माने गए अन्य प्रमाणों का इन्हीं प्रमाणों में अन्तर्भाव साङ्ख्यशास्त्रियों को अभीष्ट है । यथाहि –

“...स्यादेतद् – माभून्न्यूनम्, अधिकं तु कस्मान्न भवति, सङ्गिरन्ते हि

प्रतिवादिन उपमानादीन्यपि प्रमाणानि, इत्यत आह – “सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्” इति

। एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वाद् – अन्तर्भावादित्यर्थः ।”

(साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, साङ्ख्यकारिका, 4)

साङ्ख्यशास्त्रियों के अनुसार सब प्रकारके प्रमेयों का ज्ञान या उनकी सत्ता की सिद्धि इन तीनप्रमाणों से हो सकती हैं। इन्द्रिय गोचर विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है अतीन्द्रिय या इन्द्रिय के अगोचर विषयों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है और अनुमान प्रमाणों से भी ज्ञात ना होने वाले परोक्ष विषय का ज्ञान आप्तप्रमाण से होता है। साङ्ख्यकारिका में प्रमाण का लक्षण अप्राप्त । है वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रमाण की व्युत्पत्ति से उसका लक्षण प्राप्त हो जाता है कि जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न किया जाता है अथवा जो प्रमाण या यथार्थ ज्ञान का कारण (साधन या जनक) हैं , वह प्रमाण हैं।

प्रमाणविषयक साङ्ख्यशास्त्रीय अवधारणाएँ टीका परम्परा में किस प्रकार विकसित हुई है उनका आलोचन अपेक्षित है । प्रस्तुत शोध निम्नलिखित ग्रन्थ के आलोक में प्रवृत्त हैं-

- साङ्ख्यकारिका- इसके रचयिता ईश्वरकृष्ण हैं। आचार्य उदयवीर शास्त्री ने इनका समय ५०९ ई.पू. माना हैं।
- सुवर्णसप्तति शास्त्र - यह बौद्ध भिक्षु परमार्थ द्वारा ५५०ई.-५६९ई.के मध्य चीनी भाषा में अनूदित साङ्ख्यकारिका का भाष्य हैं।
- साङ्ख्यवृत्ति- यह साङ्ख्यकारिका की वृत्ति हैं। इसका प्रकाशन सन १९७३ में गुजरात विश्वविद्यालय द्वारा किया गया। इसका संपादन ई.ए. सोलोमन ने किया।सोलोमन के अनुसार यह सांख्यकारिका की प्राचीनतम टीका है। सांख्यवृत्ति के रचयिता का नामोल्लेख नहीं किया गया है। सोलोमन के अनुसार यह संभवतः स्वयं कारिकाकार ईश्वरकृष्ण की रचना है और परमार्थ कृत चीनी अनुवाद का यह आधार रहा है ।
- युक्तिदीपिका-आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार इसके रचयिता “राजा” माने जाते हैं । इनका प्रकाशन १९३८ में कलकत्ता, पुलिन बिहार संस्कार द्वारा किया गया।इसका सम्पादन श्री नरेन्द्रचन्द्र वेदान्ततीर्थ ने किया।

- जयमङ्गला –उदयवीर शास्त्री इसका लेखन ६०० ई.पू.मानते हैं। इसके लेखक शंकर (शंकराचार्य या शंकारार्य) माने जाते हैं।
- गौडपादभाष्य – इसके रचयिता गौडपाद हैं।
- मठारवृत्ति-इसके रचयिता माठराचार्य हैं । विद्वानों ने इनका समय १००० ई. के बाद का माना है।
- तत्त्वकौमुदी- इसके रचनाकार मैथिल ब्राह्मण वाचस्पति मिश्र हैं। इसका प्रकाशन ओरियण्टल बुक ऐजेन्सी पूना द्वारा १९३४ ई.में हुआ।
- साङ्ख्यचन्द्रिका- यह स्वामी नारायण तीर्थ द्वारा विरचित हैं । इसका समय १७वीं शती हैं।
- साङ्ख्यतरुवसन्त- इसके रचयिता मुडुम्ब स्वामी हैं । इसका प्रकाशन डॉ. पी.के.शाषिधरन् के सम्पादन में मदुरै कामराज विश्वविद्यालय द्वारा १९८९ में हुआ ।

साङ्ख्यकारिका की सबसे प्राचीन वृत्ति माठरवृत्ति है । जैन ग्रंथ हरिश्चंद्रसूरी कृत अनुयोग द्वार सूत्र तथा षड्दर्शन समुच्चय में माठरवृत्ति का काल प्रथम शताब्दी स्वीकार किया गया है हालांकि साङ्ख्यकारिका और उसकी टीकाओं के काल के विषय में विद्वानों में मतभेद स्पष्ट दिखाई देता है। इसका काल विद्वानों ने 500 ई. स्वीकार किया है । गौणपादभाष्य का समय 600 ई., युक्तिदीपिका का सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध, जयमंगला टीका का सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध, सांख्यतत्त्वकौमुदी का अष्टम शताब्दी, साङ्ख्यतरुवसन्त और साङ्ख्यचन्द्रिका टीकाएँ अर्वाचीन टीकाएँ स्वीकार की जाती है । प्रस्तुत शोध साङ्ख्यशास्त्रीयटीकापरम्परा में विभिन्न प्रमाणभेदों के अध्ययन में प्रवृत्त है । उदाहरणत्वेन अनिरुद्ध के द्वारा प्रत्यक्ष के दो भेद ग्राह्य किए गए हैं – सविकल्पक प्रत्यक्ष एवं निर्विकल्प प्रत्यक्ष । विज्ञान भिक्षु भी प्रत्यक्ष के इन दोनों भेदों को स्वीकार

करते हैं परन्तु जयमंगलाकार प्रमाणिक और अप्रमाणिक भेद से प्रत्यक्ष के दो भेद स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि शुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाणिक एवं अशुद्ध प्रत्यक्ष अप्रमाणिक है वें अप्रमाणिक प्रत्यक्ष को सव्यपदेश, सविकल्पक, अर्थव्यतिरेकि, इन्द्रिय-व्यक्तिरेकि के भेद से चतुर्विध मानते हैं।

प्रकृत शोध निम्नाङ्कित उद्देश्यों को लेकर प्रवृत्त है -

- साङ्ख्यशास्त्रीय प्रमाण संबंधी अवधारणाओं का टीका परम्परा में अध्ययन करना।

यथाहि- साङ्ख्यकारिका के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण “प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं” प्राप्त होता है। साङ्ख्य की टीका परम्परा में उक्त लक्षण का काल क्रमानुसार विस्तार द्रष्टव्य है। माठरवृत्ति और गौड़पादभाष्यकार आदि आचार्यों के अनुसार चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा शब्द आदि विषयों का अध्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष हैं। न्याय दर्शन के प्रमाण तथा अप्रमाण की भांति ही जयमंगला-टीकाकार ने प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रमाणिक और अप्रमाणिक रूप से दो भेद किए हैं तथा अप्रमाण के चार भेद दर्शाए हैं सव्यपदेश, सविकल्पक, अर्थव्यतिरेकि, इन्द्रिय व्यक्तिरेकि।

- साङ्ख्यकारिका की टीकापरम्परा में प्राप्त टीकाओं के प्रमाण से सम्बन्धित साम्य-वैषम्य की उपस्थापना करना।
- प्रमाण का किस विधा से सूत्रात्मक ग्रंथों एवं कारिका, टीकादि में वर्णन किया गया है – प्रस्तुत तथ्य की समीक्षा करना।
- भारतीय दर्शन में प्रतिपादित प्रमाणों के सन्दर्भ में साङ्ख्यशास्त्रीय प्रमाणों के स्वरूप, लक्षणादि की आलोचना करना। इसी तारतम्य में तीन प्रमाणों में अन्य सभी प्रमाणों के अन्तर्भाव के सिद्धान्त की साङ्ख्यशास्त्रीय ग्रन्थ-परम्परा में आलोचना करना।

- सूत्र-ग्रंथ की टीका-परम्परा और कारिका-ग्रंथ की टीका-परम्परा का अध्ययन करना ।
- साङ्ख्यकारिका की टीकाओं में विषयप्रतिपादन और भाषाशैली का अध्ययन ।

## प्रथम अध्याय

### साङ्ख्यशास्त्रीय 'प्रमेय' निरूपण

क.) प्रमेय तत्त्वों का चतुर्विध वर्गीकरण

- (१.) कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव
- (२.) कश्चिदर्थो विकृतिरेव
- (३.) कश्चित्प्रकृतिविकृतिः
- (४.) कश्चिदनुभयरूपः

ख.) व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ निरूपण

(१.) व्यक्त

(१.१) महत् -

महत् लक्षण और स्वरूप निरूपण

महत् (बुद्धि) का स्वरूप- सात्त्विक बुद्धि ,बुद्धि का तामसिक स्वभाव निरूपण

(१.२) अहङ्कार - अहङ्कार का स्वरूप निरूपण, अहङ्कार के द्विविध सर्ग

(१.१८) षोडशक गण

इन्द्रिय- बुद्धिन्द्रिय निरूपण कर्मेन्द्रिय निरूपण, मन-इन्द्रि पञ्चतन्मात्रा

(१.१९-२३) पञ्चमहाभूत

(२.) अव्यक्त

(३.) ज्ञ

## प्रथम अध्याय

### साङ्ख्यशास्त्रीय 'प्रमेय'निरूपण

---

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है।<sup>1</sup> साङ्ख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में प्रमेयों के विषय में विशेष रूप से कहा गया है कि इस सांख्य शास्त्र में जो भी सूत्र में उपदिष्ट किया गया है वहीं प्रमेय है।<sup>2</sup> 'प्रमेय' शब्द की शब्द-व्युत्पत्ति एवं अर्थ-व्युत्पत्ति विचारणीय है -

'प्र' उपसर्गपूर्वक 'मा' धातु से कर्म कारक अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करने पर 'प्रमेयम्' शब्द की सिद्धि होती है। 'प्रमेय' शब्द के तीन अर्थ हैं<sup>3</sup> - 'प्रमा' ज्ञान का विषय, मापे जाने योग्य पदार्थ, निश्चित करने योग्य। प्रथम अर्थ में जो 'प्रमा' अर्थात् यथार्थ पदार्थ-ज्ञान का विषय (पदार्थ / तत्त्व) होता है वह प्रमेय कहलाता है। जो अर्थ तत्त्वतः जाना जाए वह प्रमेय है। यथाहि-

योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्<sup>4</sup>

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि जो बोध होता है वहीं प्रमेय है एवं उसी ज्ञेय वस्तु की सिद्धि प्रमेय-सिद्धि है।<sup>5</sup>

---

<sup>1</sup> दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ॥

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ सा. का. ॥४॥

<sup>2</sup> अत्र यदपदिष्टं भवद्भिरस्मिन् शास्त्रे प्रमेयमित्यवगन्तव्यम्॥३॥ यु.दी., द्वि.आ., सां.का. ३।

<sup>3</sup> "प्रमेय, त्रि., प्र+मा-कर्मणि यत् । (१) प्रमाज्ञानविषये पदार्थे (२) परिच्छेद्ये (३) अवधार्ये च ।" वाचस्पत्यम्, भाग - ६, पृ.४४८०।

<sup>4</sup> वा.भा. १/१/१।

<sup>5</sup> प्रमीयते तदिति प्रमेयम् । प्रमेयस्य सिद्धिः प्रमेय-सिद्धिः। यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ४।

---

तत्त्वकौमुदीकार पूर्वपक्ष के वाक्य को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि प्रमेय के बोधार्थ प्रारम्भ किया गया शास्त्र प्रमाणों का सामान्य और विशेष लक्षण को क्यों पारिभाषित करने लगा।<sup>6</sup>

इसी शङ्का के समाधान में आचार्य वाचस्पति मिश्र “प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धिः” इस कारिकांश को रखते हैं। जिसका तात्पर्य है कि प्रमेयों का प्रमाज्ञान ( प्रतीति ) प्रमाणाश्रित होती है। यथाहि -

इत्यत आह -‘प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धिः इति।’<sup>7</sup>

सिद्धि के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि “सिद्धिः प्रतीतिः” सिद्धि अर्थात् प्रतीति, प्रतीति से तात्पर्य है ज्ञान।<sup>8</sup> युक्तिदीपिकाकार ‘सिद्धि’ का अर्थ सिद्धि के पर्याय पद से कहते हैं। उनके मत में सिद्धि का अर्थ अधिगम अथवा अवबोध है। यथाहि-

‘सिद्धिरधिगमोऽवबोध इत्यर्थः’<sup>9</sup>

अतः सिद्धि शब्द के दो अर्थ प्राप्त होते हैं प्रतीति, अधिगम या अवबोध। उक्तानुसार प्रमेय का जिस तत्त्व से अवबोध होता है वहीं प्रमाण है। यथाहि-

सिद्धिरधिगमोऽवबोध इत्यर्थः प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्।<sup>10</sup>

प्रकृत कथन का तात्पर्य है कि तत्त्वावबोधक प्रमाण एक ही है। इसका कारण अध्यवसाय बुद्धि से ही प्रमेय का बोध है और उस बुद्धि को तत्त्वतः एक ही स्वीकार किया गया है परन्तु उपाधि भेद से प्रमाण के भेद स्वीकार किए गए हैं -प्रत्यक्ष , अनुमान, शब्द।

---

<sup>6</sup> अथ प्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कस्मात् प्रमाणं सामान्यतो विशेषतश्च लक्ष्यति ? सा.तत्त्वकौ., सां.का. ४।

<sup>7</sup> तत्रैव।

<sup>8</sup> तत्रैव, सां.तत्त्वकौ.सां.का.४।

<sup>9</sup> यु.दी., द्वि.आ.सां.का.४।

<sup>10</sup> तत्रैव, यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ४।

उपाधिकृत प्रमाण के भेद का आश्रय न लेकर केवल मात्र प्रमेयपरिच्छेदकत्व सामान्य को ग्रहण करते हुए “प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि” प्रस्तुत कारिकांश में “प्रमाणात्” एकवचन उद्धृत किया गया।<sup>11</sup> माठरवृत्ति में आचार्य माठर पूर्वपक्ष के अभिप्राय को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि इन प्रमाणों से किन वस्तुओं की सिद्धि होती है। समाधान स्वरूप माठराचार्य प्रतिपादित करते हैं कि सभी प्रमेयों की सिद्धि (प्रतीति) प्रमाणों के द्वारा ही होती है। यथाहि- “तेन प्रमाणेन किं साध्यमित्याह -प्रमेयं सकलं प्रमाणेन प्रमीयते।”<sup>12</sup> यथा-तुला के द्वारा चन्दन आदि को मापा जाता है। इसी प्रकार घृतादि का एवं प्रस्थादिना से धान्यादि का माप होता है। उसी प्रकार प्रमेयों की सिद्धि भी प्रमाणों से ही होती है। यथाहि-

यथा तुलया चन्दनादि कर्षादिना घृतादि, प्रस्थादिना वा ब्रीह्यादीत्यादिवत्।<sup>13</sup>

क.) प्रमेय तत्त्वों का चतुर्विध वर्गीकरण

साङ्ख्यकारिका में प्रमेयों का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है -

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥<sup>14</sup>

इन्हीं चतुर्विध वर्गीकरण को युक्तिदीपिकाकार ने “प्रकृति-विकार” वृत्त के अंतर्गत विभक्त किया है<sup>15</sup>। युक्तिदीपिकाकार के वचनों का तात्पर्य है कि व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ का विवेक

<sup>11</sup> तत्रैव, तदेकमेव, बुद्धरेकत्वाभ्युपगमात् । उपाधिवशात् भिन्नमाश्रीयते, प्रत्यक्षमनुमानमित्यादि । तस्य योऽसावुपाधिकृतो भेदस्तमनाश्रित्य प्रमेय-परिच्छेदकत्वलामान्यमङ्गीकृत्येकवचननिर्देशः क्रियते प्रमाणादिति ॥ यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ४ ।

<sup>12</sup> मा.वृ., सां. का. ४ ।

<sup>13</sup> तत्रैव, मा.वृ., सां. का. ४ ।

<sup>14</sup> सा. का. ३।

<sup>15</sup> “उच्यते - त्रयस्यास्य प्रतिपत्तिं द्वेधा समामनन्ति समासतो विस्तरतश्च। तदेव त्रयं पञ्चभिरधिकरणैर्भिद्यते। कानि पुनरधिकरणानिति? प्रकृतिविकारवृत्तं, कार्यकारणवृत्तम्, अतिशयानतिशयवृत्तं, निमित्तनैमित्तिकवृत्तं, विषयवृत्तमिति । प्रकृतविकार-वृत्तपूर्वकत्वादि-

ज्ञान दो तरह से होता है सक्षिप्त और विस्तार से, युक्तिदीपिकाकार ने इन्हीं तीन को पाँच अधिकरणों में बांटा है प्रकृतिविकार-वृत्त, कार्यकारण-वृत्त, अतिशयानादि-वृत्त, निमित्तनैमित्ति-वृत्त, विषयविषयि-वृत्त यह पाँच अधिकरण है प्रकृतिविकारवृत्त पूर्वक अन्य सभी भेदों का वर्णन करेंगे। वह प्रकृतिविकारवृत्त चार भागों में विभाजित हैं। वाचस्पति मिश्र के द्वारा भी प्रमेयों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार साङ्ख्यशास्त्र के अन्तर्गत चार प्रकार के पदार्थों का सङ्क्षेपतः सङ्ग्रहण किया गया है। कोई पदार्थ केवल मात्र कारण-रूप है, कोई केवल कार्यरूप है, कोई कारण और कार्य दोनों है, कोई दोनों में से एक भी नहीं है।<sup>16</sup>

प्रमेयों के प्रस्तुत वर्गीकरण का विस्तृत आलोचन अपेक्षित है।

- (१.) कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव -इस विषय में युक्तिदीपिकाकार का मत है कि कोई केवल कारण ही है कार्य नहीं।<sup>17</sup> इस कोटि का साङ्ख्यशास्त्रीय तत्त्व “मूलप्रकृति” है। मूलप्रकृति विकृतियों का मूल है अर्थात् कारण है। प्रकृत तत्त्व किसी का भी कार्य नहीं है। माठरवृत्तिकार भी कहते हैं कि वह स्वयं किसी से उत्पन्न न होने से एवं दूसरे सप्त पदार्थों की उत्पादक होने से वह कारण ही है, कार्य नहीं।<sup>18</sup> यथाहि-

“कारणमेव सा न कार्यमित्यर्थः। अनुत्पन्नत्वादुत्पादकत्वाच्च।”<sup>19</sup>

---

तरेषामधिकरणानां तद्भेदान् वक्ष्यामः। तत्पुनश्चतुर्धा- किञ्चित् कारणमेव न कार्यम्, किञ्चित् कारणं च कार्यञ्च, किञ्चित् कार्यमेव न कारणम्, किञ्चित् नैव कारणं न चापि कार्यमिति। सा. तत्त्वकौ., सां.का. ४।

<sup>16</sup> सङ्क्षेपतो हि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधाः। कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित् प्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः। सा. तत्त्वकौ., सां.का. ३।

<sup>17</sup> किञ्चित् कारणमेव न कार्यम्.... यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ३।

<sup>18</sup> कारणमेव सा न कार्यमित्यर्थः। मा.वृ., सां. का. ३।

<sup>19</sup> मा.वृ.,सां. का. ३।

आचार्य गौड़पाद ने “मूलप्रकृति” शब्द की शाब्दिक अवधारणा स्पष्ट करते हुये इसके विकृत होने का प्रतिषेध किया है। जबकि प्रकृतिविकृतिसप्तक को इसका विकार होने का प्रावधान किया है।<sup>20</sup>

जयमङ्गलाकार का इस विषय पर कोई विशिष्ट मत प्राप्त नहीं होता है। सङ्क्षिप्त शब्दों में उन्होंने भी केवल मूलप्रकृति को प्रकृतिविकृतिसप्तक का आदि-कारण ही स्वीकार किया है। इस प्रकार जयमङ्गलाकार भी पूर्व मतों को स्वीकार करते हैं।<sup>21</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र मूल प्रकृति का निर्वचन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि यह कारण ही है कार्य नहीं। इस उक्ति में वाचस्पति मिश्र हेतु देते हैं कि मूलप्रकृति सकल कार्यों की जड होने से इसकी कोई जड नहीं है। इसको भी जड स्वीकृत करने पर अनवस्था-दोष का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। तदनुसार मूलप्रकृति कार्य से भिन्न अर्थात् केवल कारण है। जिससे कार्य उत्पन्न होते हैं, वहीं प्रकृति है। प्रकृति का ही नामान्तर “प्रधान” है। प्रधान सज्जा से ही प्रकृति की सत्त्व-रजो-तमस् गणों की साम्यावस्था का बोध स्वीकृत किया जाता है।<sup>22</sup>

(२.) कश्चिदर्थो विकृतिरेव - युक्तिदीपिकाकार के शब्दों में कोई कार्य ही होता है कारण नहीं।<sup>23</sup> माठरवृत्तिकार प्रस्तुत अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं कि जो षोडश गण हैं वह विकार ही हैं कार्य होने के कारण, किसी अन्य का कारण न

<sup>20</sup> प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात्। मूलं च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः। अविकृतिः= अन्यस्मान्नोत्पद्यते, तेन प्रकृतिः कस्यचिद्विकारो न भवति। गौ.भा., सां. का. ३।

<sup>21</sup> सप्तानां प्रकृतीनां मूलमाद्यं कारणमित्यर्थः। अविकृतिरिति। न विक्रियत इत्यविकृतिः। न कुतश्चिदुत्पद्यत' इत्यर्थः। ज.म.सा.का.३।

<sup>22</sup> तत्र का प्रकृतिरेवेत्युक्तम्-मूलप्रकृतिरविकृतिरिति। प्रकरोतीति प्रकृतिः= प्रधानम्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः, प्रकृतिरेवेत्यर्थः। कस्मादित्यत उक्तम्-मूलेति। मूलश्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः, विश्वस्य कार्यसङ्घातस्य सा मूलम्। न त्वस्य मूलान्तरमस्ति, अनवस्थाप्रसङ्गात्। न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः। सा. तत्त्वकौ., सां.का. ३।

<sup>23</sup> किञ्चित् कार्यमेव न कारणम्.... यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ३।

होने से उनको प्रकृति नहीं कहा जा सकता है। माठर इसी भाव को व्यक्त करते हैं कि विकारयुक्त अहङ्कार के द्वारा एकादशेन्द्रिय प्रकट हुई एवं पञ्चतन्मात्राओं के द्वारा पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं तथा इनसे दूसरे कोई विकार या पदार्थ उद्भूत नहीं होते हैं। एतदर्थं स्वयं उद्भूत होने से एवं अनुद्भूत होने वे विकार अर्थात् विकृति है।<sup>24</sup>

आचार्य गौडपाद ने षोडश गणो को क्रमशः स्थापित करते हुए उन्हें कार्य ही स्वीकार किया है कारण नहीं।<sup>25</sup>

जयमङ्गलाकार आचार्य शङ्करभगवत्पाद भी इसी तथ्य को वर्णित करते हुए कहते हैं कि विकार विकृति इव है तथा इन विकारों से कुछ उत्पन्न नहीं होता है। आशय यही है कि यह षोडश पदार्थ सप्त प्रकृति-विकृति के कारण है अर्थात् विकार स्वयं कार्य हैं किसी के उत्पन्न होने का कारण नहीं है अर्थात् यह कुछ उत्पन्न नहीं करते हैं।<sup>26</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र भी षोडश तत्त्वों को विकार कार्य ही स्वीकार हैं प्रकृति कारण नहीं। तदनुसार षोडश तत्त्वों का समुदाय केवल मात्र कारणरूप ही है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार पृथिवी आदि महाभूतों के भी गो, घट, वक्षादि विकार है (कार्य) है। इसी प्रकार प्रस्तुतों के विकारभूत दुग्ध, बीजादि विकार के भी दधि, अंकुरादि कार्य है। तथापि ये सब गो आदि, पृथिवी आदि से भिन्न तत्त्व नहीं है। अतः अपने से

<sup>24</sup> षोडशकस्तु पुनर्विकार एव कार्यत्वात्। न तु तस्य प्रकृतित्वमकारणत्वात्। तद्व्यक्तिमाह-वैकृतिकादहङ्कारादुत्पन्नान्येकादशेन्द्रियाणि तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानीति षोडशकोऽयं गणो विकारोऽन्यस्मादुत्पन्नो न हि ततोऽन्यदुत्पद्यत इत्यर्थः। उत्पन्नत्वादनुत्पादकत्वाच्च। पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वान्न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात्। मा.वृ., सां. का. ३।

<sup>25</sup> षोडशकस्तु विकारः। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च महाभूतानि, एष षोडशको गणो विकृतिरेव। गौ.भा. सां. का. ३।

<sup>26</sup> षोडशकश्च विकार इति। षोडश परिमाणमस्येति षोडशकः। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनश्चेत्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानीत्ययं षोडशको गणः। चकार एवकारार्थः। विकारो विकृतिरेव। ज.म. सां. का. ३।

भिन्न तत्त्व का उपादान कारण बनने वाली वस्तु ही साङ्ख्य शास्त्र में “प्रकृति” शब्द से अभिप्रेत है।<sup>27</sup>

(३.) कश्चित्प्रकृतिविकृतिः- युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कोई कारण भी है और कार्य भी है।<sup>28</sup> माठरवृत्तिकार ने सप्त (महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राँ) इनको कार्य भी माना है और कारण भी क्योंकि यह मूलप्रकृति से उत्पन्न हैं इसलिए यह विकृति भी है किन्तु अन्य तत्त्वों के उत्पन्न होने का कारण है, इसलिए यह प्रकृति भी है।<sup>29</sup>

आचार्य गौडपाद महदादि सप्त भेदों को स्पष्ट (प्रकृति-विकृति के रूप में) दर्शाते हुए कहते हैं कि यह कारण भी है और कार्य भी। आचार्य गौडपाद प्रकृतिविकृतिसप्तक को व्याख्यात करते हुये कहते हैं कि बुद्ध्यादि सात हैं – बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच तन्मात्रा। “मूलप्रकृति” आख्य प्रधान तत्त्व से बुद्धि का आविर्भाव होता है। अतः प्रधान का कार्य (विकार) बुद्धि को कहा गया है। प्रधान की विकारभूत बुद्धि अहङ्कार को आविर्भूत करती है। अतः अहङ्कार की प्रकृति बुद्धि कही गई है। बुद्धि से आविर्भूत होने से

---

<sup>27</sup> अथ का विकृतिरेव? कियती चेत्यत उक्तम्-षोडशकस्तु विकारः इति। षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः। ‘तु’ शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमः। पञ्च महाभूतानि एकादशेन्द्रियाणि चेति षोडशको गणो विकार एव, न प्रकृतिरिति। यद्यपि पृथिव्यादीनामपि गोघटवृक्षादयो विकाराः, एवं तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यंकरादयः, तथापि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्। तत्त्वान्तरोपादानत्वञ्च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतम्, इति न दोषः। सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समा, \_ इति न तत्त्वान्तरत्वम्। सा. तत्त्वकौ., सां.का. ३।

<sup>28</sup> किञ्चित् कारणं च कार्यञ्च..... यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ३।

<sup>29</sup> महदाद्यास्तु सप्त प्रकृतयो विकृतयश्च। महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेति सप्त प्रकृतयोऽन्येषां कारणतया, विकृतयश्च कार्यतया स्वयम्। तत्र व्यक्तिमाह-प्रधानाद् बुद्धिरिति विकृतिः, सा चाहङ्कारं जनयतीति प्रकृतिः अहङ्कारो महत् उत्पन्न इति विकृतिः। तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पन्नानीति विकृतयः पञ्चापि, ततः पञ्च महाभूतानि जायन्त इति प्रकृतयः। उत्पन्नत्वादुत्पादकत्वाच्च सप्तेमाः प्रकृतयो विकृतयश्च। मा.वृ., सां. का. ३।

अहङ्कार कार्य (विकार) है । अहङ्कार से पाँच तन्मात्राएँ उद्भूत होती है । पाँच तन्मात्राएँ में से शब्दतन्मात्रा से आकाश का अविर्भाव होता है, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, गन्धतन्मात्रा से पृथिवी, रूप से तेजस् एवं रस से जल का अविर्भाव होता है । अतः तन्मात्राएँ अहङ्कार से आविर्भूत होने से विकार परन्त आकाशादि का कारण भी है ।<sup>30</sup>

इसी प्रकार जयमङ्गलाकार भी सङ्क्षेप में प्रकृतिविकृति पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करके सप्त (महदादि) कारण भी है और कार्य भी हैं, यह स्पष्ट करते हैं।<sup>31</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र भी प्रश्नात्मक शैली में प्रकृतिविकृति की चर्चा करते हुए सप्त तत्त्व कारण भी है कार्य भी है यह स्पष्ट करते हैं।<sup>32</sup>

(४.) कश्चिदनुभयरूपः- युक्तिदीपिकाकार कहते है कि कोई तो न कारण होता है न ही कार्य।<sup>33</sup> माठरवृत्तिकार प्रस्तुत प्रसङ्ग को स्पष्ट करते हैं कि पुरुष अनुद्भूत

<sup>30</sup> महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। महान् बुद्धिः, बुद्ध्याद्याः सप्त=बुद्धिः, अहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि। एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः। तद्यथा प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते, तेन विकृतिः प्रधानस्य विकार इति। सैवाहङ्कारमुत्पादयति, अतः प्रकृतिः। अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यत इति विकृतिः, स च पञ्चतन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः। तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तस्मादाकाशमुत्पद्यत इति प्रकृतिः। तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः। गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः। रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः। रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेवापि उत्पादयतीति प्रकृतिः। एवं महदाद्याः सप्त प्रकृतयो, विकृतयश्चागौ.भा. सां. का. ३ ।

<sup>31</sup> महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेति। महान् बुद्धिः, स आद्यो यासां प्रकृतीनां तास्तथोक्ताः। प्रकृतयश्च विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः। तत्र महानहङ्कारं जनयन् प्रकृतिः, प्रधानादुत्पद्यमानो विकृतिः। अहङ्कारस्तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि च जनयन् प्रकृतिः, महत उत्पद्यमानो विकृतिः। तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्च यथाक्रममाकाशवाय्वग्न्युदकपृथिव्याख्यानि भूतानि जनयन्तः प्रकृतयः, अहङ्कारादुत्पद्यमाना विकृतयः। ज.म. सां. का. ३ ।

<sup>32</sup> कतमाः पुनः प्रकृतिविकृतयः? कियत्यश्चेत्यत उक्तम्-महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त इति। प्रकृतयश्च ताः विकृतयश्च ता इति प्रकृतिविकृतयः सप्त। तथा हि-महत्तत्त्वमहङ्कारस्य प्रकृतिः, विकृतिश्च मूलप्रकृतेः। एवमहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणाञ्च प्रकृतिः, विकृतिश्च महतः। एवं पञ्चतन्मात्राणि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयः, विकृतयश्चाहङ्कारस्यासा. तत्त्वकौ., सां.का. ३।

होने से न तो प्रकृति है और किसी के द्वारा उद्भूत न होने से वह विकृति भी नहीं है आशय यही हुआ कि यह न ही कारण है और न ही कार्य है।<sup>34</sup>

आचार्य गौडपाद मूल पंक्ति को उद्धृत करके कहते हैं कि पुरुषतत्त्व न प्रकृति न विकृति है आशय यही है कि न यह कारण है न ही कार्य। यथाहि-

**न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।<sup>35</sup>**

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद पुरुष का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि शरीर में जो वास करता है वही पुरुष है। पुरुष शब्द का अर्थ-निर्वचन आचार्य के द्वारा प्रस्तुत किया गया। तदनुसार पुरुष से कुछ उत्पन्न नहीं होता है। वह प्रकृति (कारण) नहीं है निष्क्रियत्व होने से, और यह भी नहीं है कि यह किसी से उत्पन्न होता हो, अनादि होने से।<sup>36</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जो न कारण है न ही कार्य है वह उभयरूप है। यथाहि-

**अनुभयरूपमाह-न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः इति।<sup>37</sup>**

ईश्वरकृष्ण विरचित साङ्ख्यकारिका में साङ्ख्यीय प्रमेयों का वर्गीकरण किया गया है वे तीन तत्त्वों में विभाजित हैं।

**ख.) व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ निरूपण**

**(१) व्यक्त**

माठरवृत्तिकार द्वन्द्व समास को द्योतित करते हुये कहते हैं कि-

**“व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च तेषां त्रयाणां विज्ञानादनुभवात्”<sup>38</sup>**

---

<sup>33</sup> किञ्चिन्नैव कारणं न चापि कार्यमिति। यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ३।

<sup>34</sup> पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वान्न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात्। नैवासौ कारणं न च कार्यमित्यर्थः। मा.वृ.,सां. का. ३।

<sup>35</sup> गौ.भा. सां. का. ३।

<sup>36</sup> न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष इति। पुरं शरीरं तस्मिन् वसतीति पुरुषः। नैरुक्तोऽत्र विधिः। तस्मान्न किञ्चिदुत्पद्यत इति न प्रकृतिः; निष्क्रियत्वात् नाप्ययं कुतश्चिदुत्पद्यत इति न विकृतिः, अनादित्वात्। ज.म. सां. का. ३।

<sup>37</sup> सा. तत्त्वकौ., सां. का. ३।

अर्थात् व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के विज्ञान से अथवा इन तीनों के अनुभव से वह अद्वितीय निरतिशय ( कैवल्य ) प्राप्त होता है।

युक्तिदीपिकाकार भी इसी भावार्थ को दोहराते हुए कहते हैं कि व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ के विवेक ज्ञान से मोक्ष (कैवल्य) की उपस्थिति होती है।<sup>39</sup>

माठरवृत्तिकार व्यक्त के भेदों को निरूपण करते हुए कहते हैं कि व्यक्त के बुद्धि अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रियां, पञ्चमहाभूत इन सबकी की गणना करके कुल तेईस प्रकार के व्यक्त प्रमेय हैं।<sup>40</sup>

गौडपादभाष्यकार आचार्य माठर की इसी बात का समर्थन करते हैं और इन्द्रिय (एकादश), तन्मात्रा (पञ्च), महाभूत (पञ्च) को अपनी टीका में व्यक्त का भेद स्वीकार करते हैं।<sup>41</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र सांख्यतत्त्वकौमुदी में व्यक्त के अर्थ को कहते हैं कि व्यक्त अर्थात् कार्य का ज्ञान जो कि पूर्व होता है तत्पश्चात् उसके कारण-भूत प्रकृति या अव्यक्त का ज्ञान होता है।<sup>42</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने भी निम्न वचनों से व्यक्त के तेईस भेदों को संक्षिप्त शब्दों में कहा है -

“महदादिभूतपर्यन्तं त्रयोविंशति प्रकारं व्यक्तमुच्यते”<sup>43</sup>

अर्थात् महत् तत्त्व से महाभूत पर्यन्त तेईस तत्त्व व्यक्त कहलाते हैं।

(१.१)महत् -

---

<sup>38</sup> मा.वृ., सा.का. २ ।

<sup>39</sup> आह-सम्यगुपदिष्टं भवता व्यक्ताव्यक्तजविज्ञानान्मोक्षोऽवाप्यते। यु.दी., द्वि.अ., सा.का. ३ ।

<sup>40</sup> 'तत्र व्यक्तं बुद्ध्यहंकारेन्द्रियतन्मात्रभूतभेदात्त्रयोविंशतिकम्' । मा.वृ. सा.का. २ ।

<sup>41</sup> तत्र व्यक्तं महदादि, बुद्धिहङ्कारः, एकादशेन्द्रियाणी, पञ्चमहाभूतानि चेति। गौ.भा. सा.का. २ ।

<sup>42</sup> व्यक्त ज्ञानपूर्वकमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानम्। सा. तत्त्वकौ. सा.का. २ ।

<sup>43</sup> ज.म. सा.का. २ ।

महान्, बुद्धि, मति, प्रज्ञा, सम्बिति, ख्याति, चिति, स्मृति, आसुरी, हरि, हर, हिरण्यगर्भ यह बारह महत् तत्त्व के पर्यायवाची शब्द माने गए हैं।<sup>44</sup> आचार्य गौडपाद ने बारह पर्याय वाचक शब्द न मानते हुए कुल दश पर्याय वाचक शब्दों को स्वीकार किया है। कारिका क्र. २२ के भाष्य में महान्, बुद्धि, आसुरी, मति, ख्याति, ज्ञान, और प्रज्ञा को पर्याय रूप में निर्दिष्ट किया है।<sup>45</sup> इसी तारतम्य में कारिका क्र. २३ में ग्रहीत शब्दों जैसे ज्ञान, प्रकाश, अवगन और भान को भी बुद्धि का पर्यायवाची माना जा सकता है।<sup>46</sup> ज्ञान, प्रकाश, अवगन और भान को छोड़कर गौडपादभाष्यकार के द्वारा कहे गए अन्य छः पर्यायवाची शब्द माठरवृत्ति के अनुरूप ही हैं। आचार्य शङ्कर भगवत्पाद जी ने महान्, बुद्धि, मति, प्रत्यय, उपलब्धि को ही बुद्धि का पर्यायवाची माना है।<sup>47</sup> इन्होंने यहाँ प्रत्यय और उपलब्धि को छोड़कर महान्, बुद्धि और मति इन तीन पर्यायवाची शब्दों माठर और गौडपाद के अनुरूप ही कहा है।

युक्तिदीपिकाकार ने महान्, बुद्धि, मति, ब्रह्मा, पूर्ति, ख्याति, ईश्वर और विखर को महत् का पर्यायवाची शब्द माना है।<sup>48</sup> अन्य टीकाकारों (माठर, गौडपाद, जयमङ्गला) के द्वारा कहे गए पर्यायवाची शब्दों में युक्तिदीपिकाकार के ब्रह्मा, पूर्ति,

<sup>44</sup> महान् , बुद्धिः, मतिः, प्रज्ञा, सम्बितिः, ख्यातिः, चितिः, स्मृतिरासुरी हरिः, हरः, हिरण्यगर्भ इति पर्यायाः। मा.वृ. सा.का. २२ ।

<sup>45</sup> महान् = बुद्धिः, आसुरी, मतिः, ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते। गौ.भा सा.का. २२ ।

<sup>46</sup> तत्रैव, ज्ञानं, प्रकाशोऽवगमो, भानमिति पर्यायाः। गौ.भा सा.का. २३ ।

<sup>47</sup> महान् = बुद्धिर्मतिः प्रत्यय उपलब्धिरिति बुद्धिपर्यायाः। ज.म. सा.का. २२ ।

<sup>48</sup> महान् , बुद्धिर्मतिर्ब्रह्मा पूर्तिः ख्यातिरीश्वरो विखर इति पर्यायाः। यु.दी.ष.अ. सा.का. २२ ।

ईश्वर, और विखर यह पर्यायवाची शब्द सभी से भिन्न हैं। सांख्यतत्त्वकौमुदी में महत् शब्द के पर्यायवाची शब्दों का वर्णन कहीं दिखलायी नहीं पड़ता हैं।

मुख्य टीकाओं में वर्णित महत् तत्त्व के सभी पर्यायवाची शब्दों को निम्न तालिका के माध्यम से समझा जा सकता है।-

| क्र. | टीकाकार            | पर्यायवाचक शब्द                                                                                 |
|------|--------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------|
| 1.   | माठरवृत्ति         | महान् , बुद्धि, मति, आसुरी, प्रज्ञा, सम्बिति, ख्याति, चिति, स्मृति, आसुरी, हरि, हर, हिरण्यगर्भ। |
| 2.   | गौडपादभाष्य        | महान्, बुद्धि, मति, आसुरी, ख्याति, ज्ञान, प्रज्ञा, प्रकाश, अवगन भान।                            |
| 3.   | जयमङ्गला           | महान्, बुद्धि, मति, प्रत्यय, उपलब्धि।                                                           |
| 4.   | युक्तिदीपिका       | महान् , बुद्धि, मति, ब्रह्मा, पूर्ति, ख्याति, ईश्वर, विखर।                                      |
| 5.   | सांख्यतत्त्वकौमुदी | अनुपलब्ध                                                                                        |

#### (क.) महत् लक्षण और स्वरूप निरूपण-

सांख्यकारिकाकार महत् का लक्षण और स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं कि-

अध्यवसायो बुद्धिः धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।

सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥23॥<sup>49</sup>

आचार्य माठर महत् का लक्षण करते हुए कहते हैं कि बुद्धि का असामान्य धर्म अध्यवसाय करना है। “अध्यवसाय” पद को स्पष्ट करते हुए टीकाकार के द्वारा प्रतिपादित किया गया

<sup>49</sup> सां.का. २३।

है कि निश्चय प्रतिपत्ति करना ही अध्यवसाय है। जैसे यह स्थाणु है एवं यह पुरुष है इसी प्रकार की निश्चय प्रतिपत्ति करना ही बुद्धि का स्पष्ट लक्षण है।<sup>50</sup>

आचार्य गौडपाद के अनुसार अध्यवसाय करना ही बुद्धि का लक्षण है। अध्यवसाय के तात्पर्य को स्पष्टतया गौडपाद के द्वारा निरूपित किया गया है। तदनुसार “अध्यवसानम्” कर्म ही अध्यवसाय है अर्थात् निश्चय करना ही अध्यवसाय है। जैसे- बीज में भावी अङ्कुर वृत्ति का निश्चय होता है। ठीक उसी तरह अध्यवसाय है। यह कलश है यह कपड़ा है इस तरह का जो अध्यवसायात्मक ज्ञान करता है वह बुद्धि रूप में लक्षित है।<sup>51</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद जी ने बुद्धि का लक्षण करते हुए कहा है कि अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है और विषय के सन्दर्भ में शब्दादि में से “यह गन्ध है” यह निश्चय ही “अध्यवसाय” है। इसे “सुबुद्धि” भी कहते हैं।<sup>52</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी अध्यवसाय को बुद्धि का कार्य होने से उसका धर्म माना है फिर भी क्रिया और क्रियावान् में भेद रहित स्वीकार करके निश्चय को ही बुद्धि स्वीकार किया है। ये बात सभी जगह प्रसिद्ध है कि किसी भी व्यवहार (कार्य) को करने वाला मनुष्य सर्व प्रथम उस कार्य को बाह्येन्द्रिय से ग्रहण करता है। उसके बाद मन से उस व्यवहार के प्रति विचार (संकल्प-विकल्प) करके अहङ्कार से “मैं इस कार्य को करने में सक्षम हूँ” ऐसा बुद्धि के द्वारा “मुझे यह करना है” इस प्रकार का निश्चय करके तब उसमें प्रवृत्त होता है। “यह मुझे करना है” इस तरह का जो बुद्धि (महत्) का निश्चय है

---

<sup>50</sup> तस्य महतः किं लक्षणमित्यत्रोच्यते-अध्यवसायो बुद्धिरिति। अध्यवसायो निश्चयः प्रतिपत्तिः अयं स्थाणुरयं पुरुष इति बुद्धेर्लक्षणम्। मा.वृ. सां.का. २३।

<sup>51</sup> तत्रोक्तं 'प्रकृतेर्महानुत्पद्यते'। तस्य महतः किं लक्षणमित्येतदाह-अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम्। अध्यवसानम् अध्यवसायः। यथा बीजे भविष्यद्वृत्तिकोऽङ्कुरस्तद्वदध्यवसायः-अयं घटः, अयं पटः इत्येवमध्यवस्यति या सा बुद्धिरिति लक्ष्यते। गौ.भा. सां.का. २३।

<sup>52</sup> बुद्धेर्लक्षणमाह-अध्यवसाय इत्यादि। शब्दादिषु विषयेऽध्यवसायशब्दोऽयं यावद् गन्धोऽयमिति सुबुद्धेर्लक्षणम्। ज.म. सां.का. २३।

तथा जिसे वो चेतन पुरुष के सम्पर्क से चैतन्यवती होकर करती है उसी को अध्यवसाय कहा गया है, जो कि बुद्धि का साधारण रहित अर्थात् विशेष कार्य है। जिसे क्रिया और क्रियावान् में भेद रहित तत्त्व होन के कारण बुद्धि कहा गया है तथा इसे ही बुद्धि का लक्षण भी कहा गया है, क्योंकि यह बुद्धि को सजातीय अहङ्कार इत्यादि एवं विजातीय घडा, वस्त्र आदि से भिन्न करती है।<sup>53</sup>

युक्तिदीपिकाकार बुद्धि का लक्षण निरूपित करते है कि अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है तथा अध्यवसाय को स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है कि “यह गौ ही है”, “वह पुरुष ही है” एतत्प्रभृति प्रत्यय अर्थात् निश्चयात्मक अर्थ ही अध्यवसाय है।<sup>54</sup>

#### (ख.) महत् (बुद्धि) का स्वरूप -

आचार्य माठर कहते हैं कि उस बुद्धि को अष्टाङ्ग सात्त्विक और तामसिक गुणों के भेद से कहा गया है। इस प्रकार उस बुद्धि के सात्त्विक रूप चार प्रकार के है। वह धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य हैं।<sup>55</sup>

ठीक इसके विपरीत चार असात्त्विक (तामसिक) रूप भी चार प्रकार के हैं। जो अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य हैं।<sup>56</sup>

<sup>53</sup> बुद्धिं लक्षयति-अध्यवसायः इति। 'अध्यवसायो बुद्धिः' क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षया। सर्वो व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वाऽहम-त्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति; ततश्च प्रवर्तत इति लोकसिद्धम्। तत्र योज्यं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्यायाः बुद्धेः सोऽध्यवसायः, बुद्धेरसाधारणो व्यापारः, तदभेदा बुद्धिः। स च बुद्धेर्लक्षणं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात्। सा. तत्त्वकौ. ज.म. सां.का. २३।

<sup>54</sup> कोऽयमध्यवसायः? गौरेवायं, पुरुष एवायमिति यः प्रत्ययो निश्चयोऽर्थग्रहणं, सोऽध्यवसायः। यु.दी.ष.आ., सां.का. २३।

<sup>55</sup> सा च बुद्धिरष्टाङ्गा। सात्त्विकतामसरूपभेदात्। तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति-धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमिति। मा.वृ. सां.का. २३।

आचार्य गौडपाद ने भी बुद्धि को सात्विक और तामसिक भेद से अष्टाङ्गा कहा हैं। आचार्य माठर की तरह यह भी बुद्धि के सात्विक रूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को मानते हैं।<sup>57</sup> इसके विपरीत तामसिक रूप बुद्धि के भी चार भेद माने हैं। वह अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य आदि हैं। इस प्रकार सात्विक और तामसिक रूप से आठ भेदों वाली बुद्धि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उद्भूत होती है।<sup>58</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने भी बुद्धि के आठ रूप स्वीकृत किये हैं। जयमङ्गलाटीका में भगवत्पाद के द्वारा धर्म, ज्ञान, विराग, और ऐश्वर्य को सत्त्विकरूप माना है यह भी स्पष्ट किया गया है कि बुद्धि जब सत्त्व के प्रति उत्कट होती है तब प्रकृत धर्म ( धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्य ) अभिव्यक्त होते हैं। तामस को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उत्कट लक्षण से, धर्मादि चतुष्टय से विपरीत तामसरूप कहा जाता हैं अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य यह तामसरूप हैं <sup>59</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र भी बुद्धि के सात्विक और तामस भेद कहते हैं, सात्विक बुद्धि के निरूपण प्रसङ्ग में धर्म, ज्ञान,

56 तत्रैव, किञ्चान्यत्-तामसमस्मात् विपर्यस्तम्। अस्मात् सात्त्विकाद्धर्मादिविपर्यस्तं विपरीतमधर्माज्ञानाद्यं चतुर्धा बुद्धेः रूपं तामसम्। मा.वृ. सां.का. २३।

57 सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका, सात्त्विकतामसरूपभेदात्। तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति=धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यं चेति। गौ.भा. सां.का. २३।

58 तत्रैव, किञ्चान्यत् तामसमस्माद्विपर्यस्तम्। अस्माद्धर्मादिविपरीतं तामसं बुद्धिरूपम्। तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्मः एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति। एवं सात्त्विकस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्तादुत्पद्यते। गौ.भा. सां.का. २३।

59 सत्त्वतमोबहुलत्वात् । बुद्धेर्यदा सत्त्वमुत्कटं भवति तदैतच्चतुष्टयं भवतीत्यर्थः। तामसमस्मानिपर्यस्तमिति । उत्कटलक्षणात् धर्मादिचतुष्टयाद्विपरीतं तमस्युद्विक्ते भवतीत्यर्थः । अधर्मोऽज्ञानमवैराग्य-मनैश्वर्यञ्चेतिदभाष्य ज.म. सां.का. २३।

वैराग्य एवं ऐश्वर्य को सात्त्विक बुद्धि कहा गया है तथा इसी सात्त्विक रूप के विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य यह चार तामस रूप है।<sup>60</sup>

युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि बुद्धि का स्वरूप त्रिगुणत्मिका होने के कारण उस उस गुण की उत्कर्षता से बुद्धि का उसी उसी में रूपान्तरण ही बुद्धि का सात्त्विक अथवा तामस रूप में रूपान्तरण कहा जाता है। यहां पर पूर्वपक्ष पुनः प्रश्न करते हुए कहते हैं कि किस गुण के अधिकता ( प्रकर्ष ) में किस तरह की बुद्धि के रूपान्तर का प्रादुर्भाव होता है? पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए कहते हैं कि धर्म, ज्ञान, विराग, और ऐश्वर्य इन्हें बुद्धि का सात्त्विक रूप कहा जाता है। तथा बुद्धि की एकरूपकता बताते हुए ग्रन्थकार ने सात्त्विकामेतद्रूपम् में एकवचन का निर्देश किया है। क्योंकि जब रजोगुण और तमोगुण को अधीन करके बुद्धिगत सत्त्वगुण अतिशयता को प्राप्त हो जाता है। जब सात्त्विक गुण के प्रभाव से धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य आदि यह बुद्धिरूप होता है।<sup>61</sup>

तथा इस के विपरीत तमो गुण की अतिशयता से उत्पन्न बुद्धि तामसिक रूप हो जाती है।<sup>62</sup>

## (अ.) सात्त्विक बुद्धि -

### १.) धर्म

---

<sup>60</sup> तदेवं बुद्धिं लक्षयित्वा विवेकज्ञानोपयोगिनस्तस्याः धर्मान् सात्त्विकतामसानाह-धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपम्, तामसमस्माद् विपर्यस्तमिति। सा. तत्त्वकौ. सां.का. २३।

<sup>61</sup> बुद्धेस्तु त्रिगुणात्मकत्वात् तस्य तस्य गुणस्य प्रकर्षे बुद्धे तत्तद् रूपान्तरमुत्पद्यते इति। ,आह-कस्य गुणस्य प्रकर्षे बुद्धेः किलक्षणं रूपान्तरमुत्पद्यते? इत्युच्यते धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद् रूपम्,अत्र त्वेदरूपमिति सत्यपि धर्माविभेदे बुद्धिरित्यभेदविवक्षावित एकवचननिर्देशः क्रियते। एतदुक्तं भवति-यवा रजस्तमसी वशमापाल बुद्धिगतं सत्त्वमुत्कृष्टं भवति, तदा धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यमित्येतदपं भवति। यु.दी.ष.आ. सां.का. २३।

<sup>62</sup> तत्रैव,तामस्माद् विपर्यस्तम् ॥ एतत्,अस्माद् धर्मादे सत्त्वरूपाद् विपर्यस्तं तामसम्। यु.दी.ष.अ. सां.का. २३।

वर्णाश्रमियों के लिए स्व सदाचारानुकूल प्रतिपादित किये गये यम नियमादि ही धर्म हैं तथा यम नियमों से जिसको सिद्ध किया जाए वही धर्म हैं।<sup>63</sup> पुनः आचार्य माठर वैयाकरणों का पक्ष रखते हुए कहते हैं कि “धृञ्” धातु से धरणार्थक धर्म शब्द की सिद्धि होती है। दुर्गति (नरक) की ओर पतिताश्रय होते हुए प्राणी को बचाने के कारण इसे धर्म कहा गया है।<sup>64</sup>

प्रस्तुत प्रसङ्ग में पाँच यमों और पाँच नियमों का प्रतिपादन अपेक्षित है।<sup>65</sup> अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह पाँच यम कहे जाते हैं। प्राणिमात्र के विषय में वाचिक अद्रोह, मानसिक अद्रोह एवं शारीरिक अद्रोह एवं कार्मिक अद्रोह ही “अहिंसा” शब्द के द्वारा वाच्य है।<sup>66</sup> भूतहित के लिये प्रवृत्त एवं यथादृष्ट, यथाश्रुत, यथानुभूत पदार्थ में जैसा भाव अन्तःकरण में स्फुरित हुआ हो, वैसा ही वञ्चनादि रहित उच्चरित किया जाना ही “सत्य” कहा जाता है।<sup>67</sup> पदार्थ के सर्वथा ग्रहणाभाव का नाम ही “अस्तेय” है।<sup>68</sup> सम्भोगावस्था में भी तद्विषयक शब्दादि विषयों में अनासक्ति का भाव एवं तद्विषयों में निवृत्ति, सङ्कल्पाभाव और वैराग्य ही “ब्रह्मचर्य” कहा जाता है।<sup>69</sup>

<sup>63</sup> तत्र धर्मो नाम वर्णिनामाश्रमिणाञ्च समयाविरोधेन यः प्रोक्तो यमनियमलक्षणः स धर्मः। एभिर्धर्मनियमैर्यः साध्यते स धर्मः। मा.वृ. सां.का. २३।

<sup>64</sup> तत्रैव, धारणार्थो धृजित्येष धातुः शाब्दैः प्रकीर्तितः। दुर्गतिप्रपत्प्राणिधारणाद् धर्म उच्यते। मा.वृ. सां.का. २३।

<sup>65</sup> 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। मा.वृ. सां.का. २३।

<sup>66</sup> तत्र या स्थावरजङ्गमानां भूतानां वाङ्मनः कायकर्मभिरद्रोहता सा अहिंसा। मा.वृ. सां.का. २३।

<sup>67</sup> तथा यद्भूतहितमत्यन्तं दृष्टश्रुतानुमितिविज्ञातेष्वर्थेषु यथाऽन्तःकरणप्रत्ययोपस्थितं तथैव इन्द्रियाण्यविलुप्य वञ्चनाभ्रान्तिप्रतिपत्तिबन्ध्यताविरहितवागुच्चारणं तत् सत्यम्। मा.वृ. सां.का. २३।

<sup>68</sup> तत्रैव, तथा यत्सम्भ्रमेष्वन्येषु वाऽऽत्यन्तिकेषु प्रयोजनेषु स्वे स्वे स्थाने समत्वाद् ग्रहणस्योपरमस्तदस्तेयम्। मा.वृ. सां.का. २३।

<sup>69</sup> तत्रैव, तथा स्त्रीपुरुषसंयोगे परस्परलिङ्गसंयोगे शब्दस्पर्शरूपगन्धेषु यः सङ्गव्युदासः श्रोत्राद्युपरतिः असङ्कल्पश्च मनस उपरतिः सोऽष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यम्। एवं ह्याहुः संयोगशब्दस्पर्शरूपगन्ध-सङ्कल्पस्मृतिधर्मफलत्यागाद्यष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यमिति। अन्यच्च। ब्रह्मबीजं रेतस्तच्चरति न

लाभानुविद्ध सभी भावनाओं का परित्याग ही “अपरिग्रह” शब्दवाच्य है।<sup>70</sup> शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर और प्रणिधान को नियम कहते हैं।<sup>71</sup> शब्दादि विषयों से शून्य अतीन्द्रिय मे इन्द्रियों के उपरमण को शौच कहते हैं। बाह्य शौच मिही जल इत्यादि से होता है। अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग, सत्पुरुष का संसर्ग स्वधर्म मे विधि पूर्वक स्थित रहना ही शौच हैं।<sup>72</sup> भिक्षान्न से जीवन यापन करना, आध्यात्मिकाग्नि का मन्त्रसहित हवन,नित्य यज्ञशेष वस्तुओं का प्रसाद के रूप में सेवन , इस प्रकार स्वल्पाहार ही सन्तोष हैं।<sup>73</sup> कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत से विषयाभिमुख होना ही तप हैं।<sup>74</sup> प्रणवादि वेद मन्त्रों जप करना ही स्वाध्याय हैं।<sup>75</sup> समस्त कर्मों को ईश्वर (परमगुरु) को अर्पण करना ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता हैं।<sup>76</sup>

---

मुञ्चतीति ब्रह्मचारी। ब्रह्म वेदं वा गुरुणा प्रदत्तं चरतीति। ब्रह्मा स्वयम्भूस्तस्यायं दण्डकमण्डलुधारणादिरूप आकारो ब्रह्मवच्चरतीति वा। मा.वृ. सां.का. २३।

70 तत्रैव, एवमर्जनक्रयविक्रयादि-कल्पनाभेदानामनुपादानं सर्वथा सर्वस्यास्वीकरणमपरिग्रहः। मा.वृ. सां.का. २३।

71 तत्रैव'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। मा.वृ. सां.का. २३।

72 तत्रैव, यश्चेन्द्रियाणामन्तःकरणो-परमस्तच्छौचं बाह्यं मृज्जलादिना । अभक्ष्य-परिहारस्तु संसर्गश्चाप्यचिन्तितैः। मा.वृ. सां.का. २३।

73 तत्रैव, तथा यद्वैक्षयर्जितेन हविषा प्राणयात्रा। आध्यात्मिकस्याग्नेमन्त्रगृहीतेन होमः कर्तव्यः। अहन्यहनि यज्ञशेषाशनार्थमेतदाहार-लाघवं सन्तोषः। 'स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात् प्राणाय स्वाहा' इत्यारभ्य 'स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि हुतं (जुहुयात् ?) तादृक् तत्स्यात्' इति श्रुतेः। मा.वृ. सां.का. २३।

74 तत्रैव,तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि शरीरशोषणरूपम्। 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः' इति स्मरणात् । नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति। अनादिवासनाविचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमासेव्यमिति मन्यन्ते। मा.वृ. सां.का. २३।

75 स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः। मा.वृ. सां.का. २३।

76 तत्रैव, ईश्वरप्रणिधानं क्रियाणां परमगरावर्पणं तत्फल संन्यासो वा। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इति, 'अनाश्रितः कर्मफलम्' इति श्रवणात्। मा.वृ. सां.का. २३।

आचार्य गौडपाद दया,दान,यम,नियम इन लक्षण से युक्त को धर्म कहते हैं।<sup>77</sup>

तथा दया,दान के लक्षण को न दर्शाते हुए, पतञ्जलि को उद्धृत करके उनके द्वारा कहे गए यम,नियम के लक्षणों को प्रस्तुत करते हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इनको यम कहते हैं।<sup>78</sup> और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह नियम कहलाते हैं।<sup>79</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद धर्म का लक्षण करते हुए कहते हैं कि जो यम नियमविषय वाला अनुष्ठानात्मक अध्यवसाय है उसे धर्म कहते हैं यहाँ पर आचार्य शङ्कर सांख्य प्रवचन भाष्य में वर्णित यम नियम को उद्धृत करते हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह यह नियम कहे जाते हैं तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह नियम कहे जाते हैं। आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने यहाँ कहे जाते हैं। आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने यहाँ यम नियम मात्र को ही स्पष्ट किया है।<sup>80</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र जी कहते हैं कि धर्म उसे कहा जाता है जो अभ्युदय (लौकिक सुख) और निःश्रेयस (पारलौकिक कल्याण) का कारण है अभ्युदय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो यज्ञ दान इत्यादि के निष्पादन से उद्भूत धर्म अभ्युदय (लौकिक सुख) का कारण है, तथा अष्टांगयोग के अभ्यास से उद्भूत धर्म निःश्रेयस (मोक्ष या कैवल्य)

---

77 तत्र धर्मो नाम दयादानयमनियमलक्षणः। गौ.भा.सां.का.२३।

78 तत्रैव, तत्र यमाः नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिता-‘अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः यमाः। गौ.भा.सां.का.२३।

79 तत्रैव, ‘शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। गौ.भा.सां.का.२३।

80 तत्र योज्यमनिर्विषयमनुष्ठानात्मकोऽध्यवसायः स धर्मः। यमाः पञ्च नियमाश्च। यथोक्तं सांख्यप्रवचने ‘अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ‘शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः’ इति। ज.म. सां.का.२३।

का कारण होता है।<sup>81</sup> युक्ति दीपिकाकार धर्म का लक्षण करते हैं श्रुति (वेद) स्मृति आदि में विहित कर्मों के अनुष्ठान से सत्त्वावयव से उद्भूत बुद्धिगत जो आशय है उसे धर्म कहते हैं।<sup>82</sup> तथा युक्ति दीपिकाकार धर्म के दो भेद करते हुए कहते हैं कि- 'ब्रह्मादि लोक में अपने वाञ्छित शरीरेन्द्रिय एवं विषयो भोग का निष्पादक तथा ज्ञानादि का अङ्ग भूत धर्म यह प्रथम भेद है।<sup>83</sup> द्वितीय भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यज्ञादि क्रिया के द्वारा होने वाला अनुष्ठान एवं यम .नियम के पालन से होने वाला धर्मः।<sup>84</sup> यम को वर्णित करे हुए कहते हैं कि अहिंसा सत्य, अस्तेय, अकल्कता और ब्रह्मचर्य यम है और नियम को अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, आहार में बतलाते हुए कहते हैं कि लाघवता एवं प्रमाद न करना यह नियम है।<sup>85</sup>

## (2) ज्ञान –

आचार्य माठर ज्ञान के दो भेद बाह्य और आभ्यन्तर के रूप में बतलाते हैं बाह्य ज्ञान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि बीणा, बाद्य, संगीत, चित्त, कला, गणित और व्याकरणादि शास्त्रों को बाह्यज्ञान माना जाता है। तथा आभ्यन्तर को स्पष्ट करे हुए कहते हैं कि पुरुष प्रकृति का प्रभेद ज्ञान (विवेक ज्ञान) आभ्यन्तर ज्ञान कहलाता है।<sup>86</sup>

<sup>81</sup> धर्मोऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः; तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः, अष्टाङ्गयोगा-नुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः। सा. तत्वकौ. सां.का. २३।

<sup>82</sup> तत्र श्रुतिस्मृतिविहितानां कर्मणामनुष्ठानाद्बुद्ध्यवसथः सत्त्वावयव आशयभूतो धर्म इत्यच्यते। यु.दी., ष.आ.सां.का. २३।

<sup>83</sup> तत्रैव, स तु द्विविधः ब्रह्मादिस्थानेष्वभिप्रेतशरीरेन्द्रियविषयोपभोगनिर्वर्तको ज्ञानाद्यङ्गभूतश्च प्रथमः। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>84</sup> तत्रैव, अग्निहोत्रहवनादिक्रियानुष्ठानसाधनो यमनियमसाधन इतरः। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>85</sup> तत्रैव, “तत्राहिंसासत्यमस्तेयमकल्कता ब्रह्मचर्यमिति पञ्च यमाः। अक्रोधोगुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवमप्रमाद इति पञ्च नियमाः।” यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>86</sup> “अधुनाज्ञानमाह-ज्ञानं द्विविधम् बाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्र बाह्यम्-बीणापणवगन्धर्वचित्रकथा-गणितव्याकरण-शास्त्राणि। आभ्यन्तरम्-गुणपुरुषान्तरोपलब्धि- लक्षणम्। अन्ये गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि

इस विषय में आचार्य गौडपाद ज्ञान के पर्यायवाची शब्द को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं । कि यह ज्ञान दो प्रकार का होता है अभ्यान्तर और बाह्य ।<sup>87</sup> बाह्यज्ञान के अन्तर्गत वेद, शिक्षा, कल्य, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष (वेदाङ्ग) , पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि को माना है।<sup>88</sup>

आचार्य माठर और आचार्य गौडपाद के ज्ञान लक्षण में किञ्चित् भिन्नता और अधिकतम समानता प्राप्त होती है । आचार्य गौडपाद ने आभ्यान्तर ज्ञान पुरुष और प्रकृति के ज्ञान को कहा है ।<sup>89</sup>

आचार्य माठर कहते हैं कि बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान से लौकिक संस्कारात्मक ज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है । वहीं आचार्य गौडपाद भी इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं कि बाह्यज्ञान के द्वारा संसार में प्रसिद्धि या लोकानुराग होता है। तथा आभ्यान्तर ज्ञान से मुक्ति हस्तगत होती है ।<sup>90</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने आचार्य माठर और आचार्य गौडपाद की तरह ज्ञान के स्पष्ट रूप से बाह्य और आभ्यन्तर भेदों को नहीं कहा है किन्तु उनके द्वारा ज्ञान के विवेचन से ज्ञात होता है कि वह भी ज्ञान के दो भेद स्वीकरते हैं बाह्यज्ञान पच्चीस तत्त्वों के अपने अपने - संज्ञा लाक्षण्यकत्व एवं प्रयोजन के अवधारण को ज्ञान (बाह्य ज्ञान) कहते हैं । तथा गुणों और पुरुष में अन्तर जान पाना ज्ञान (आभ्यान्तर ज्ञान) कहा जाता है ।<sup>91</sup>

---

अन्यः पुरुष इति। बाह्येन ज्ञानेन लोकोपपत्तिराभ्यन्तरेण मोक्ष इति। एतत् ज्ञानं विषयोपरमात् मा.वृ. सां.का. २३ ।

<sup>87</sup> ज्ञानं, प्रकाशोऽवगमो, भानमिति पर्यायाः। तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्चेति। गौ.भा. सां.का. २३ ।

<sup>88</sup> तत्रैव, तत्र बाह्य नाम-वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्यौतिषाख्यषडङ्गसहिताः, पुराणानि, न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति। गौ.भा. सां.का. २३ ।

<sup>89</sup> तत्रैव, आभ्यन्तरं-प्रकृतिपुरुषज्ञानम्। गौ.भा. सां.का. २३ ।

<sup>90</sup> तत्रैव, तत्र बाह्येन ज्ञानेन लोकपतिलोकानुराग इत्यर्थः। आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः। गौ.भा. सां.का. २३ ।

<sup>91</sup> पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वसंज्ञालाक्षण्यकत्वप्रयोजनावधारणं ज्ञानम्, गुणपुरुषान्तरज्ञानम्। ज.म.सां.का. २३ ।

---

आचार्य वाचस्पति मिश्र ज्ञान का लक्षण करते हुए कहते हैं कि सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं पुरुष की अन्यताख्याति अर्थात् भेद के साक्षात्कार को ही ज्ञान कहते हैं।<sup>92</sup> युक्तदीपिकाकार भी ज्ञान के दो भेद कहते हैं शब्दादि विषय की उपलब्धि एवं पुरुष और प्रकृति के विवेक की उपलब्धि स्वरूप।<sup>93</sup>

शब्दादि उपलब्धि लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम रूप इसे शब्दादि उपलब्धि कहते हैं।<sup>94</sup> गुण पुरुषान्तर उपलब्धि ज्ञान को दो प्रकार का कहते हैं। अपूर्व विवेक ज्ञान एवं अभ्यास से उद्भूत विवेक ज्ञान।<sup>95</sup> अपूर्व विवेक ज्ञान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम्' (का.५१) अष्ट सिद्धियों से सम्बन्धित प्रकरण आये प्रमाण को अपूर्व ज्ञान कहते हैं।<sup>96</sup>

अब अभ्यास से उद्भूत विवेक ज्ञान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वैराग्य पर्व की विजयपृष्ठ में लब्ध शान्त-मलीन-स्थिर एवं सम्पूर्ण लोकभय का विरोधीभूत विवेकज्ञान को अभ्यासज विवेक ज्ञान कहा जाता है। जिसे आगे सांख्यकारिकाकार ने भी (कारिका ६४) में कहा है।<sup>97</sup>

<sup>92</sup> सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिम्। सा. तत्त्वकौ. सां.का. २३।

<sup>93</sup> ज्ञानं द्विविधम् शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>94</sup> तत्रैव, तत्र शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं प्रत्यक्षानुमानागमरूपम्। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>95</sup> तत्रैव, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधम्-अपूर्वमभ्यासजं च। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>96</sup> तत्रैव, तयोरपूर्वम् 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम्' (का० ५१) इति सिद्धिकाण्डानुपतितानि प्रमाणानि। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३

<sup>97</sup> तत्रैव, अभ्यासजं पुनः वैराग्यपूर्वा (पर्व) विजयपृष्ठलब्धं शान्तममलं ध्रुवं सकलभवाऽभव (भवभय) प्रतिपक्षभूतम्। यदाचार्यो वक्ष्यति-

'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।

अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥इति॥ (का.६४) यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

(3)वैराग्य- आचार्य माठर वैराग्य का लक्षण करते हुए कहते है वैराग्य भी दो प्रकार का होता है अभ्यान्तर वैराग्य और बाह्यवैराग्य। बाह्य वैराग्य- जो मात्र अर्जन, रक्षण, क्षयादि, हिंसादि दोष के भय से दोषो को देखकर विषयों से विरागयुक्त हो जाता है उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। इसलिए इसे बाह्य वैराग्य कहते है। तथा आभ्यन्तर वैराग्य को स्पष्ट करते हुए कहते है कि विरक्त व्यक्ति की उस स्थिति को कहा जाता है जब वह विषयों को स्वप्न एवं इन्द्रजाल जैसा समझने लगता है अभ्यान्तरज्ञान पूर्वक वैराग्य से मोक्ष होता है और बह्य से पुनर्जन्म होता है।<sup>98</sup>

आचार्य गौडपाद ने भी आचार्य माठर से सादृश्य ही वैराग्य को माना है। कि वैराग्य दो प्रकार का होता है। बाह्य एवं आभ्यान्तर। अर्जन (व्यापार), रक्षण (रक्षा), क्षय, सङ्ग, हिंसा इत्यादि दोषो से विरक्त चित्त का दृष्ट विषयों से वैतृष्ण्य, बाह्य वैराग्य कहा जाता है। प्रधान (अव्यक्त) भी स्वप्न, इन्द्रजाल के समान है इस तरह कैवल्य इच्छुक विरक्त चित्तक जो उद्भूत होता है वह आभ्यान्तर वैराग्य कहा जाता है।<sup>99</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते है कि विषय, शरीरेन्द्र से दोष दर्शन से विमुख होना ही वैराग्य कहलाता है।<sup>100</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र राग के अभाव को वैराग्य कहा है।<sup>101</sup> तथा यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, और वशीकार के रूप में उसकी चार संज्ञाएँ मानते

<sup>98</sup> “वैराग्यमाह-(१) (वैराग्यमपि द्विविधम्। आभ्यन्तरं बाह्यं च आभ्यन्तरं प्रधानमप्यत्र स्वप्नेन्द्र जाल सादृश्यमिति विरक्तस्य मोक्षप्सोर्यदुत्पद्यते तत्। ) अर्जनरक्षणक्षयातृप्तिहिंसादिदोषान् दृष्ट्वा यो विषयेभ्यो विरक्तस्तस्य मोक्षो नास्तीति। आभ्यन्तरेण, ज्ञानपूर्वकेण वैराग्येण मोक्षो भवति। मा.वृ.सां.का.२३।

<sup>99</sup> वैराग्यमाप द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्य-दृष्टविषय-वैतृष्ण्यम्-अर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा-दोषदर्शनाद्विरक्तस्य। आभ्यन्तरं प्रधानमप्यत्र स्वप्नेन्द्रजाल-सदृशमिति विरक्तस्य मोक्षेप्सोर्यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्। गौ.भा. सां.का.२३।

<sup>100</sup> विषयशरीरेन्द्रियेभ्यो दोषदर्शनाद्वैमुख्यं विरागः। ज.म.सां.का.२३।

<sup>101</sup> विरागो-वैराग्य-रागाभावः। सा.तत्त्वकौ.सां.का.२३।

हैं।<sup>102</sup> चित्त के कषाय मल (राग, द्वेष आदि) से इन्द्रियाँ स्व विषय में प्रवृत्त होती है इन्द्रियाँ विषयों के प्रति प्रवृत्ति न हो के लिए मलों का उपशमन अपेक्षित है। इस कारण किया गया प्रयत्न “यतमान” सञ्ज्ञा युक्त वैराग्य हैं।<sup>103</sup> मलों के शमन के लिए प्रयत्न करने पर कुछ तत्क्षण शान्त हो जाते हैं एवं कुछ शेष रह जाते हैं। इस तरह इनके उपशमन में पौर्वापर्य क्रम में अवशिष्ट शमन हुए मलों को पृथक् करना अर्थात् अविशिष्ट के लिये अनुष्ठान वैराग्य व्यतिरेकि संज्ञायुक्त होता है।<sup>104</sup> इन्द्रियों की (विषयों में) प्रवृत्ति में समर्थ रहित होने के कारण पक्व अर्थात् निवृत्त किन्तु औत्सुक्यमात्र रूप में मलों को मन में स्थिर रखना एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य है।<sup>105</sup> अन्नादि लौकिक एवं आनुश्रविक विषयों के उपस्थित रहने पर भी उत्सुकता लेशमात्र भी न होना वशीकार संज्ञक वैराग्य हैं। वह तीनों के अनन्तर होने वाला हैं अर्थात् मुख्य मुख्य है योगसूत्रकार पतञ्जली ने जिसका योग सूत्र में वर्णन इस प्रकार किया है कि दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के सम्बन्ध औत्सुक्य शून्य साधक का वशीकार-संज्ञा (बोध) हैं। वह वैराग्य हैं। बुद्धि का धर्मभूत यह वैराग्य हैं। जो योग सूत्र १/१६ में वर्णित हैं।<sup>106</sup>

युक्ति दीपिकाकार वैराग्य के सन्दर्भ में कहते हैं कि प्रतिपक्षभूत और ज्ञान के अभ्यास से उद्भूत जो बुद्धि की नैर्मल्यता है उसे विराग्य कहते हैं। तथा युक्तिदीपिकाकार ने भी

<sup>102</sup> तत्रैव, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा इति चतस्र संज्ञाः। सा.तत्त्वकौ.सां.का. २३

<sup>103</sup> तत्रैव, रागादयः कषायाश्चित्तवर्तिनः, तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्ते; तन्मात्र प्रवर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नो यतमानसंज्ञा। सा.तत्त्वकौ.सां.का. २३।

<sup>104</sup> तत्रैव, परिपाचने चानुष्ठीयमाने केचित्कषायाः पक्वाः, पक्ष्यन्ते च केचित्। तत्रैवं पूर्वापरीभावे सति पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा। सा.तत्त्वकौ.सां.का. २३।

<sup>105</sup> तत्रैव, इन्द्रियप्रवृत्त्यसमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थापनमेकेन्द्रियसंज्ञा। सा.तत्त्वकौ.सां.का. २३।

<sup>106</sup> तत्रैव, औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरुपस्थितेष्वपि दृष्टानुश्रविकविषयेषु या संज्ञात्रयात् पराचीना सा वशीकारसंज्ञा। यामत्र भगवान् पतञ्जलिर्वर्णयामास-दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् इति (यो. सू. १.१६)। सोऽयं बुद्धिधर्मो विराग इति। सा.तत्त्वकौ.सां.का. २३।

यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार के रूप में चार अवस्थाएं मानी है । जो तत्त्वकौमुदीकार के सादृश्य ही हैं ।<sup>107</sup>

(4) ऐश्वर्य - आचार्य माठर ऐश्वर्य का तात्पर्य ईश्वर भावना कही जाती है तथा उसे आठ प्रकार का मानते है । जो अणिमा (सूक्ष्मता) ,लघिमा (लघुत्व), गरिमा (गुरुता), महिमा (महिमा) प्राप्ति (अधिगम) ,प्राकाम्य (अवसर्ग), ईशित्व (प्रभुत्व), वशित्व (अधीनता), यत्रकामवसायित्व (सत्यसङ्कल्पता)।<sup>108</sup> ऐश्वर्य को आचार्य गौडपाद ने भी माठर सादृश्य ही माना है । तथा अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति प्रकाम्य, ईशित्व और वशित्व को परिभाषित किया है ।<sup>109</sup> अणु भाव होना अणिमा है अणिमा ऐश्वर्य से सूक्ष्म होकर जगत में भ्रमण कर सकते है ।<sup>110</sup> महिमा ऐश्वर्य से बृहत्(महान्) होकर भ्रमण कर सकते है ।<sup>111</sup> लघिमा ऐश्वर्य से मृणाल का तन्तु या कपास के अवयव से भी लघु केशर पुष्प से अग्र में भी रुक जाता हैं ।<sup>112</sup> प्राप्ति ऐश्वर्य से अभीष्ट वस्तु को किसी भी स्थान से अपने पास प्राप्त करना ।<sup>113</sup> प्राकाम्य ऐश्वर्य से विस्तार से जो इच्छा करता है उसे करने में सामर्थ्य हो जाता है ।<sup>114</sup> ईशिता ऐश्वर्य से प्रभुता से त्रैलोक्य का स्वामित्व प्राप्त करने के योग्य हो

---

<sup>107</sup> विरागस्तु रागप्रतिपक्षभूतो ज्ञानाभ्यासोपजनितो बुद्धेः प्रसादः। तस्य तुयतमान-व्यतिरेकैकेन्द्रिय-वशीकार्लक्षणश्चतस्रोऽवस्था भवन्ति। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३ ।

<sup>108</sup> ऐश्वर्यम् ईश्वरभावेनेत्यष्टविधम्। अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वमिति। एतानि धर्मादीनि चत्वारि सात्त्विकरूपाणि बुद्धेः। मा.वृ.सां.का.२३ ।

<sup>109</sup> “ऐश्वर्यम्=ईश्वरभावः। तच्चाष्टगुणम् अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्रकाम्यमीशित्वं, वशित्वं, यत्रकामावसायित्वं चेति। गौ.भा. सां.का.२३ ।

<sup>110</sup> तत्रैव,अणोर्भावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति। गौ.भा. सां.का.२३ ।

<sup>111</sup> तत्रैव,महिमा महान् भूत्वा विचरतीति। गौ.भा. सां.का.२३

<sup>112</sup> तत्रैव,लघिमा= मृणालीतूलावयवादि लघुतया पुष्पकेशराग्रेष्वपि तिष्ठति। गौ.भा. सां.का.२३ ।

<sup>113</sup> तत्रैव,प्राप्तिः अभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नोति। गौ.भा. सां.का.२३ ।

<sup>114</sup> तत्रैव,प्राकाम्यं प्रकामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति। गौ.भा. सां.का.२३ ।

जाता हैं ।<sup>115</sup> वशित्व ऐश्वर्य से सब कुछ वशीभूत हो जाता हैं ।<sup>116</sup> यत्रकामावशायित्व ऐश्वर्य से ब्रह्म से जड पर्यन्त जिसमें इच्छा उसी की स्वेच्छा से जगह, आसन विहार आदि का आचरण करता है। यह सात्विक बुद्धि के चार स्वरूप हैं ।<sup>117</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने भी आचार्य गौडपाद और आचार्य माठर के सदृश्य ऐश्वर्य के आठों गुणों को गिनाते हुए उनको परिभाषित किया है ।<sup>118</sup> तथा आचार्यों वाचस्पति मिश्र ने भी गौडपाददि अचार्यों की तरह ऐश्वर्य को अणिमादि के रूप में परिभाषित किया है ।<sup>119</sup> युक्ति दीपिकाकार की परिभाषा अन्य टीकाकारों से भिन्न है वह कहते हैं कि समस्त

<sup>115</sup> तत्रैव, ईशित्वं प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे। गौ.भा. सां.का. २३ ।

<sup>116</sup> तत्रैव, वशित्वं सर्वं वशीभवति। गौ.भा. सां.का. २३ ।

<sup>117</sup> तत्रैव, यत्र कामावसायित्वं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति। चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्विकानि रूपाणि। गौ.भा. सां.का. २३ ।

<sup>118</sup> ऐश्वर्यमष्टगुणम्=अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वं, वशित्वम्, यत्रकामावशालि(यि?) त्वं चेति। तत्राणिमाऽणुत्वम्, येन गुणेन सूक्ष्मो भूत्वा विचरति। कार्ये कारणोपचारादणिमेत्युच्यते। उत्तरत्राप्येवं योज्यम्। लघिमा लघुत्वम् येन वायुवल्लघुतरो भवति। महिमा=महत्त्वम्, येन भुवनेषु धर्मादिप्राप्तिः, येन गुणेनेषितस्य प्रापणम्। प्राकाम्यं प्रचुरकामिता येनैकमनेकं प्राकाम्यतेऽनेकं चैकम्। ईशित्वंप्रभुता, येन स्थावरादीनि भूतानि सन्देशकारीणि भवन्ति। वशित्वं वशिता, येन स्वतन्त्रश्चरति। यत्रकामावशायित्वं (कामेनेच्छयावशेतुं) शीलं यस्य स यत्रकामावशायी। तस्य भावः यत्रकामावशायित्वम्। अनेकार्थत्वाद्भातूनां 'शी' तिष्ठतौ वर्तते। येन गणेन दिव्यन्तरिक्षे भूमौ वाऽवस्थायित्वमित्यर्थः। ज.म.सां.का. २३ ।

<sup>119</sup> ऐश्वर्यमपि बुद्धिधर्मो, यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः। अत्राणिमा अणुभावः, यतः शिलामपि प्रविशति। लघिमा लघुभावः, यतः सूर्यमरीचीनालम्ब्य सूर्यलोकं याति। महिमा महतो भावः, यतो महान् भवति। प्राप्तिः यतोऽङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यम् इच्छानभिघातः, यतो भूमावुन्मज्जति निमज्जति च यथोदके। वशित्वम् यतो भूतभौतिकं वशीभवत्यवश्यम्। ईशित्वम् भूतभौतिकानां प्रभव-स्थितिलयानामीष्टे। यत्रकामावसायित्वम् सत्यसङ्कल्पता, येन यथास्य सङ्कल्पो भवति भूतेषु तथैव भूतानि भवन्ति। सा. तत्त्वकौ. सां.का. २३ ।

विषयों में प्रतिघात अर्थात् रूकावट का न होने को ही ऐश्वर्य कहा जाता है। तथा अन्य टीकाकारों सदृश्य ही इन्होंने भी अणिमादि का निरूपण का निरूपण किया है।<sup>120</sup>

(ख.) बुद्धि का तामसिक स्वभाव निरूपण-

(5) अधर्म-

माठरवृत्ति जयमङ्गला, गौडपाद और तत्त्वकौमुदीकार ने धर्म के विपरीत अधर्म को बतलाया है अधर्म की कोई विशेष परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है किन्तु युक्तिदीपिकाकार अधर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि शास्त्रोचित कर्मानुष्ठान न करने से उद्भूत बुद्धिस्थित तमोगुण का अंश अधर्म कहा जाता है धर्म के सादृश्य अधर्म को भी दो प्रकार का माना है।

प्रथम अवज्झित शरेन्द्रिय एवं विषयों का जो निर्वेश (उपभोग) उसका प्रयोजन अधर्म। एवं द्वितीय विवेकव्याप्ति का प्रतिरोधक अधर्म।<sup>121</sup>

(6) अज्ञान -

माठरवृत्ति, गौडपाद, जयमङ्गला, तत्त्वकौमुदी एवं युक्तिदीपिकाकार सहित टीकाकारों ने अज्ञान के विषयक कोई विशेष परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है। ज्ञान के विपरीत ही अज्ञान का स्वरूप बलताया है। तथा युक्तिदीपिकाकार ने ज्ञान के सदृश्य ही अज्ञान के दो भेद कहे हैं। प्रथम शब्दादि विषयक अनुपलब्धि एवं द्वितीय पुरुष और प्रकृति के विवेक की अनुपलब्धि।<sup>122</sup>

---

<sup>120</sup> “ऐश्वर्यमप्रतीघातलक्षणम् यत् पुनरष्टविधम्-अणिमा-महिमा-लघिमा-गरिमा-प्राप्तिः-प्रकाम्यमीशित्वं-वशित्वं-यत्रकामावसायित्वमिति। अत्राणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमेति भूतवैशेषिकम्, बुद्धेस्तु प्राप्त्यादि। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>121</sup> तत्रैव, शस्त्रचोदितस्य नित्यस्य च कर्मणोऽननुष्ठानाद् बुध्यवस्थस्तमोऽवयव आशयतां प्रतिपन्नोऽधर्मः। स चापि द्विविधः- अनिष्टशरीरेन्द्रियविषयोपभोगनिर्वर्तकः, ख्यातिवार्कश्च। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>122</sup> यथा च ज्ञानं द्विविधं-शब्दाद्युपलब्धिलक्षणं गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च, एवं ज्ञानमपि विपर्येण वाच्यम्। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

## (7) अवैराग्य-

माठरवृत्ति, गौडपाद, जयमङ्गला एवं तत्त्वकौमुदी कार ने वैराग्य के विपरीत अवैराग्य का स्वरूप माना है युक्ति दीपिकाकार भी यतमानदि संज्ञाओं को कहकर निष्कर्ष रूप में वैराग्य के विपरीत राग को स्वीकारते है।<sup>123</sup>

## (8) अनैश्वर्य-

अनैश्वर्य के विषय में माठरवृत्ति, गौडपाद, तत्त्वकौमुदी जयमङ्गला, और युक्तिदीपिकाकार टीकाओं के मत एक सदृश्य ही है।<sup>124</sup>

### (१.२) अहङ्कार –

वैकृत, तेजस, भूतादि, अभिमान, अस्मिता को आचार्य माठर अहङ्कार का पर्यायवाची स्वीकारते करते है। तथा चैसठ वर्णों से एवं परादि से वैखरी तक बुद्धि के द्वारा अध्यवसाय (निश्चित) कर जो कुछ भी उक्त किया जाए वह सब अकार से हकार इन दो वर्णों के ग्रहण से ऊध्वस्थ पिण्डाकार युक्त बिन्दु से अलङ्कृत प्रत्याहार न्याय के द्वारा वह सब अहङ्कार से कहा गया है।<sup>125</sup> आचार्य गौडपाद ने आचार्य माठर की तरह अस्मिता को पर्यायवाची शब्दों में नहीं रखा है अर्थात् आचार्य गौडपाद ने भी आचार्य माठर का अनुसरण किया है।<sup>126</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने सपर्णवन्नि अथवा

---

<sup>123</sup> तत्रैव, यथा तु चतुरवस्थं वैराग्यं तथा यतमानादि चतुरवस्थो रागः। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>124</sup> तत्रैव, यथा चाष्टगुणमैश्वर्यमणिमादि तथाऽष्टगुणमनैश्वर्यमेतत् तामसं महतो रूपम्। यु.दी., ष.आ., सां.का. २३।

<sup>125</sup> तस्य इमे पर्यायाः वैकृतस्तैजसो भूतादिरभिमानोऽस्मिता इति, चतुषष्टि वर्णैः परावैखरी पर्यान्ताभिधेयैर्यत् किमप्यभिधीयते बुद्ध्या समर्थं तत्सकल माद्यन्ताकारवर्णद्वय-ग्रहणेभोपरिस्थितपिण्डी-कृमानुकारिणाबिन्दुनःभूषितः प्रत्याहारन्यायेनाहङ्कार इत्यभिधीयते।मा.वृ. सां.का. २३।

<sup>126</sup> अहङ्कारो, भूतादिवैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः। गौ.भा. सां.का. २३।

सुपर्णपणि और तत्पुरुष को अहङ्कार का पर्यायवाची शब्द माना है जो कि माठर, गौडपाद आदि आचार्यों से भिन्न प्रतीत होता है।<sup>127</sup>

### (क.) अहङ्कार का स्वरूप निरूपण-

आचार्य ईश्वर कृष्ण ने अहङ्कार का लक्षण “अभिमानोऽहङ्कारः” अर्थात् अभिमान को अहङ्कार कहते हैं। यथाहि-

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्ते सर्गः।

एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥ (साङ्ख्यकारिका. २४)

आचार्य माठर कहते हैं कि अभिमान धर्म वाला अहङ्कार कहा जाता है। रूप, रस और गन्ध का अनुभव करने वाला मैं हूँ। “मै पण्डित हूँ।”, “मै दर्शनयोग्य हूँ।” इस प्रकार की वृत्ति वाला जो अभिमान है उसे ही अहङ्कार कहा जाता है।<sup>128</sup> आचार्य गौडपाद अहङ्कार का लक्षण करते हुए कहते हैं कि एकादश गण (पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, और मन) अर्थात् ऐकादशेन्द्रिय, तथा पञ्चतन्मात्राओं का गण जो पञ्च लक्षणों से युक्त है। यथा- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्र इन लक्षणों से मिश्रित है।<sup>129</sup> श्रीमद् भगवदशङ्कर जी अभिमत को अभिमान कहते हैं। तथा रूप, रस, गन्ध आदि विषय विषयों में अभिमान कि रूपवान में हूँ। मेरे यह विषय हैं। यह अहङ्कार का परिष्कृत लक्षण है।<sup>130</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र भी अहङ्कार अभिमान को ही कहते हैं।

<sup>127</sup> अहङ्कार सपर्णवन्नि (सुपर्णपणि?) इत्यहङ्कारपर्यायाः। ज.म. सां.का. २३।

<sup>128</sup> तदुच्यते-अभिमानोऽहङ्कार इति। रूपे अहम्, रसे अहम्, गन्धे अहम्,(१) (रूपयामि, रसयामि, जिघ्रापयामि) अहम् विद्वान्, अहम् दर्शनीय इत्यमेवमाद्यभिमानोऽहङ्कारः। मा.वृ. सां.का. २४।

<sup>129</sup> अहङ्कारलक्षणमुच्यते- एकदशकश्च गणः=एकादशेन्द्रियाणि, तथा तन्मात्रो गणः पञ्चकः=पञ्चलक्षणोपेतः। शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र-रसतन्मात्र- गन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः। गौ.भा. सां.का. २४।

<sup>130</sup> अहङ्कारलक्षणमाह- अभिमान इत्यादि। अभिमातिरभिमानः। रूपादिषु विषयेष्वभिमानो रूपवानहम्, ममैते विषयाः इत्यहङ्कारलक्षणम्। ज.म. सां.कां. २४।

तथा यह जो इन्द्रियग्रहीत और मन से विचारित विषय है उनमें मैं ही अधिकृत हूँ। उन्हें मैं ही करने में समर्थ हूँ। वे विषय मेरे लिए हि हैं। मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई उनमें अधिकृत नहीं है। अतः मैं ही प्रवृत्त (अधिकृत) हूँ। इस तरह का जो भी अभिमान है वह अहङ्कार का साधारण कार्य होने के कारण अहङ्कार है।<sup>131</sup>

युक्तिदीपिकाकार भी कारिकांश को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अभिमान को अहङ्कार कहते हैं।<sup>132</sup> तथा पूर्व संख्याचार्यों का खंडन करते हुए कहते हैं। कि कर्ता को (महत् या बुद्धि को) स्वयं का आभास कराने वाली जो अहम् यह प्रतीति का आविर्भाव होता है वही अहङ्कार कहलाता है। जो महत् तत्त्व से भिन्न तत्त्व है। भिन्नता का हेतु देते हुए कहते हैं कि महत्त्व सभी विषयों का अध्यवसाय रूप है एवं अहङ्कार तो केवल स्वात्म का ही बोध कराता है। परंतु यह प्रकृति से भिन्न नहीं है।<sup>133</sup>

प्रश्नानात्मक शैली में कहते हैं कि कैसे? उत्तर देते हुए कहते हैं कि प्रकृति एवं विकार को भिन्न रहित माना गया है। अर्थात् प्रकृति से विकार का भिन्न रूप नहीं है जो कि पहले विस्तृत ढंग से कह चुके हैं। आशय यह है कि जब विकार की सत्ता प्रकृति से अभिन्न है तब प्रकृति के लिए समस्त विकार स्वात्मरूप है। तथा स्वात्मरूप में बोध कराना अहङ्कार का कार्य है।<sup>134</sup> मूर्ति (स्वरूप) एवं प्रतीति की दृष्टि वह अहङ्कार महत्त्व

<sup>131</sup> अहङ्कारस्य लक्षणमाह-अभिमान इति। अभिमानोऽहङ्कारः, यत् खल्वालोचितं मतञ्च तत्र 'अहमधिकृतः', 'शक्तः खल्वहमत्र, 'मदर्थी एवामी विषयाः', 'मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति', 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सोऽसाधारण-व्यापारत्वादहङ्कारः। सा. तत्त्वकौ., सां.का. २४।

<sup>132</sup> उच्यते- अभिमानोऽहङ्कारः। यु.दी., ष.आ., सां.का. २४।

<sup>133</sup> कर्तुः स्वात्म प्रत्यवमर्शात्मको योऽयमहमिति प्रत्यय उत्पद्यते, स खल्वहङ्कारो महत्तत्त्वान्तरम्। कस्मात्? सर्वविषयाध्यवसाय रूपत्वात्। अस्य तु प्रत्यवमर्शात्। न त्वर्थान्तरम्। यु.दी., ष.आ., सां.का. २४।

<sup>134</sup> कस्मात्? पृथिवीविकारयोरनन्यत्वाऽभ्युपगमात्। न हि नः प्रकृतेरर्थान्तरभूतो विकार इति प्राग्विस्तरेण प्रतिपादितम्। यु.दी., ष.आ., सां.का. २४।

की अपेक्षा स्थूलतर है । इसका हेतु देते हुए कहते हैं कि अविभाग से विभाग का आविर्भाव होता है । अर्थात् महत् तत्त्व से विभक्त रहित अवस्था में पहले वर्तमान अहंकार अब विभक्त अवस्था को प्राप्त हो गया। अतएव अहंकार विभक्त रहित अवस्था में सूक्ष्म और विभक्त अवस्था में स्थूलतर रूप को ग्रहण कर लेता है । यथा- काल विभक्त रहित अवस्था में सूक्ष्म रहता है । परन्तु दिन मास इत्यादि के रूप में जब हम उसे विभाजित करते हैं तो वह हमारे लिए स्थूल रूप हो जाता है । कालादिवत् वाक्य में आदि पद से ज्ञान का ग्रहण कर सकते हैं । ज्ञान भी विषयाभाव में सूक्ष्म या अज्ञेय होता है। परन्तु विषय से अवच्छिन्न होकर स्थूल(वेद्य) हो जाता है ।<sup>135</sup> त्रिगुणात्मक (प्रकृति) महत् तत्त्व का विकार होने से अहंकार तत्त्व भी त्रिगुणात्मक विदित होता है। क्योंकि प्रकृति का स्वरूप विकार में देखा जाता है । तात्पर्य यह है कि अहंकार का त्रिगुणात्मक( प्रकृति ) रूप प्रतीयमान होने से महत् तत्त्व की तुलना में स्थूलतर है महत् (बुद्धि) की त्रिगुणात्मकता सूक्ष्म है एवं वह विकार की त्रिगुणात्मकता प्रतीति से ही ज्ञात होती है । यथा- तन्तु का विकार पट तन्तु की तुलना में स्थूलतर है क्योंकि पट स्वरूप विकार के प्रादुर्भाव के द्वारा ही तन्तु का प्रकृतित्व ज्ञात होता है । पटाभाव में तन्तु प्रकृतत्व अंतर्निहित रहता है । अतएव तन्तु रूप की अपेक्षा पट रूप स्थूलतर है ।<sup>136</sup>

### (ख.) अहंकार के द्विविध सर्ग-

सांख्यकारिकाकार कहते हैं कि अहंकार से दो प्रकार के सर्गों का आविर्भाव होता है । एकादश ऐन्द्रियगण ( ग्यारह इन्द्रियों का समूह ) और पञ्चतन्मात्राओं का ।<sup>137</sup>

<sup>135</sup> स च मूर्ति प्रत्ययाभ्यां महतः स्थूलतरः। कस्मात्? अविभागात् विभाग निष्पत्तेः कालादिवत्। यु.दी., ष.आ., सां.का. २४।

<sup>136</sup> त्रिगुणस्य च महतो विकारत्वाद सावपित्रिगुणकस्मात्? प्रकृति रूपस्य विकारे दृष्टत्वात् तन्तुपटवत्। यु.दी., ष.आ., सां.का. २४।

<sup>137</sup> अभिमानोऽहंकारस्तस्माद द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।

माठराचार्य कारिकांश को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि अभिमान् धर्मक अहंकार से दो प्रकार के सर्ग उत्पत्ति हो हैं।<sup>138</sup> सर्ग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सर्ग सृष्टि का पर्यायवाची शब्द हैं।<sup>139</sup> एवं प्रश्नात्मक शैली में कहते हैं कि वह सर्ग कौन सा है। इसी के उत्तर रूप में कहते हैं कि प्रथम को ऐन्द्रिय सर्ग हैं जो श्रोत्रादि से मन पर्यन्त एकदशेन्द्रिय है। तथा द्वितीय सर्ग तन्मात्रा को कहते हैं। जो शब्द से प्रारम्भ होकर गन्ध पर्यन्त पञ्चतन्मात्रा हैं। इस तरह से अहंकार से एकदशेन्द्रिय और पञ्चतन्मात्रायें की उत्पत्ति होती हैं।<sup>140</sup> गौडपादाचार्य ने द्विविध सर्गों को परोक्ष रूप में स्वीकार किया हैं। तथा जयमंगलाचार्य भी कारिकांश उद्धृत करते हुये कहते हैं। उस अभिमान धर्म वाले अहंकार से दो प्रकार के सर्ग का आविर्भाव होता है। तथा सर्ग कि शाब्दिक व्युत्पत्ति करते हुये कहा है कि सृजन को सर्ग कहते हैं।<sup>141</sup> इसी के दो प्रकार दिखलाते हुए कारिकांश उद्धृत करते हुये हैं कि एकदश परिमाण जिसके है वह एकादश श्रोत्रादि गण हैं। एवं तन्मात्र का अर्थ तन्मात्र स्वरूपमात्र प्रस्तुत किया है। तथा तन्मात्रों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। और मात्रा शब्द का ग्रहण भूतादि संक्षेप निवृत्ति अर्थ के लिये किया गया हैं। भूतादि मे भी शब्दादि कि सम्भावना से।<sup>142</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र कार्य भेद करते हुये कहते हैं कि अहंकार से दो प्रकार के कार्यों का प्रादुर्भाव होता हैं दोनों प्रकार का कथन करते हैं कि एकादश गण जो इन्द्रिय कहे जाते हैं

---

एकादशकश्च गणः तन्मात्र पञ्चकश्चैव ॥ सां.का. २४

138 तस्मादभिमानलक्षणादहङ्काराद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। मा.वृ.,सां. का. २४।

139 तत्रैव, सर्ग इति सृष्टेः पर्यायः। मा.वृ.,सां. का. २४।

140 तत्रैव, कश्चासौ सर्गः? तदुच्यते। ऐन्द्रिय एकादशकः। श्रोत्रादीनिन्द्रियाणि मनःपर्यन्तानि। तन्मात्रपञ्चकश्चैव। तन्मात्राण्यत्र शब्दादीनि गन्धपर्यन्तानि। एवमेकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि चोत्पन्नानि। मा.वृ.,सां. का. २४।

141 तस्मादभिमानलक्षणादहङ्काराद् द्विविधः प्रवर्तते सर्ग इति। सृज्यत इति सर्गः। ज.म.सां.का. २४।

142 तमेव द्विविधं दर्शयितुमाह-एकादशकश्च गण इति। एकादश परिमाणमस्येत्येकादशः श्रोत्रादिर्गणः। तन्मात्रपञ्चकश्चेति। तन्मात्रतस्मादत्र(तन्मात्र?) शब्दादिस्वरूपमात्र इत्यर्थः। तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धाः। मात्राग्रहणं भूतसंक्षेपनिवृत्त्यर्थम्। भूतेष्वपि शब्दादिसम्भवात्। ज.म.सां.का. २४।

---

एवं पञ्चतन्मात्राओं का समुदाय । इन्हीं दो प्रकार के कार्यों का प्रादुर्भाव अहंकार से होते हैं । कारिका में “एव” इस अन्तिम पद से निश्चित किया गया कि इसके अतिरिक्त कोई नहीं ।<sup>143</sup>

(१.३-१८) षोडशक गण- आचार्य माठर कहते हैं कि इस सोलह का समूह का प्रादुर्भाव अहंकार से होता है। यथाहि-

“तस्मादहङ्कारात् षोडशको गण उत्पद्यते।”<sup>144</sup>

भूतादि संज्ञा से युक्त तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं का प्रादुर्भाव होता है । इसलिए वह मूढ कहीं जाती हैं । वैकृत संज्ञक सात्त्विक अहंकार से बुद्धिन्द्रि, कर्मेन्द्रिय और मन सहित एकादशेन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है । अतः यह किञ्चित् ज्ञान युक्त होती है । यथाहि-

“ताम्साद् भूतादिनाम्नः पञ्चतन्मात्राणि शब्दादीनि । अत एव तानि मूढानि । सात्त्विकाद् वैकृताभिधानाद् बुद्धिकर्मात्मकानि मनःसहितानि एकादशेन्द्रियाणि । अत एव तानि किञ्चिज्ज्ञानन्ति ।”<sup>145</sup>

आचार्य गौडपाद भी षोडशक से सोलह स्वरूप गणों का प्रादुर्भाव मानते हैं । तथा सोलह गणों का वर्णन करते हैं। यथाहि-

“तस्मादहङ्कारात् षोडशकः षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते।”<sup>146</sup>

इसी भाँति जयमङ्गलाकार, तत्त्वकौमुदीकार एवं युक्तिदीपिकाकार आदि विभिन्न आचार्य स्वीकार करते करते हैं ।

सम्भवतः टीकाकारों ने निम्न कारिकांश को ही प्रस्तुत किया है ।

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तत वैकृतादहङ्कारात्।

<sup>143</sup> तस्य कार्यभेदमाह-तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः इति। प्रकारद्वय-माह-एकादशकश्च गणः इन्द्रियाह्वयः, तान्मात्रपञ्चकश्चै। द्विविध एव सर्गोऽहङ्कारात्, न त्वन्य इति ‘एव’कारेणावधारयति। सा. तत्त्वकौ., सां.का. २४।

<sup>144</sup> मा.वृ.सां.का. २२।

<sup>145</sup> मा.वृ.सां.का. २२।

<sup>146</sup> गौ.भा. सां.का. २२ ।

भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥<sup>147</sup>

(क.) इन्द्रिय-

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।

वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥<sup>148</sup>

प्रस्तुत कारिका में साङ्कारिकार ईश्वर कृष्ण ने बुद्धिन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का वर्णन किया हैं। कि चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् यह बुद्धिन्द्रिय कहलाती हैं। तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन्हें कर्मेन्द्रिय कहा जाता हैं।

माठराचार्य ने “इन्द्रिय” पद को स्पष्ट किया है कि इन्द्र ( आत्मा) का ज्ञान के ज्ञापक होने से यह इन्द्रियाँ कहलाती है। अथवा “इन्” पद का अर्थ है विषयों का नाम, उन विषयों के प्रति अभिमुख हों उन्हें इन्द्रिय कहा जाता है।<sup>149</sup> विद्वतोष्णीकार भी इसी मत को बालराम की टिप्पणी और पाणिनीय सूत्रांश सहित उद्धृत करते हैं।<sup>150</sup>

(क.१) बुद्धिन्द्रिय निरूपण-

चक्षुरिन्द्रिय- आचार्य माठर ने ‘चक्षु’ (नेत्र) का विषय ‘रूप’ कहा है।<sup>151</sup> आचार्य गौडपाद भी ‘चक्षु’ का विषय रूप ही स्वीकार किया हैं।<sup>152</sup> जयमंगलाकार ने शाब्दिक व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि जिससे देखा जाता है वह इन्द्रिय चक्षु कहलाती है।<sup>153</sup> आचार्य

---

<sup>147</sup> सा.का. २५।

<sup>148</sup> सा.का. २६।

<sup>149</sup> इन्द्राण्येव तानीन्द्रियाणि। इन् इति विषयाणां नाम,तानिनः विषयान् प्रति द्रवन्तीति इन्द्रियाणि। मा.वृ.,सां. का. २६।

<sup>150</sup>‘इन्द्र’ आत्मा, तस्य लिङ्गं ज्ञापकं (‘करणव्यापारः कर्तृपरतन्त्रः व्यापारत्वात् कुठारव्यापारवत् इत्येवं करणेन कर्तुरनुमानाद् इन्द्रियाणामात्मलिङ्गत्वम्- स्वटिप्पण्यां बालरामः) इत्यदर्थे ‘इन्द्रियलिङ्गम्’ (पाणिनीयसूत्र ५।२।९३) इत्यादि सूत्रेण ‘इन्द्रियम्’ इति साधु इत्यभिप्रेत्य इन्द्रियपदव्युत्पत्तिमाह- उभयमप्येतदित्यादिना। विद्वतो. सा. तत्त्वकौ., सां.का. २६।

<sup>151</sup> मा.वृ.,सां. का. २६।

<sup>152</sup> गौ.भा., सां. का. २६।

<sup>153</sup> तत्र चक्षुर्येन दृश्यते। ज.म.सां.का. २६।

वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि 'रूपोपलब्धि' लिङ्ग या हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय कहलाती है।<sup>154</sup> युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि चक्षु का रूप विषय के ज्ञान का सम्बन्ध होने के कारण चक्षुरिन्द्रिय कहलाती है।<sup>155</sup>

**श्रोत्रेन्द्रिय-** आचार्य माठर ने 'श्रोत्र' (कान) का विषय 'शब्द' कहा है।<sup>156</sup> गौडपादाचार्य ने भी माठराचार्य के भाँति ही कोई विशिष्ट परिभाषा न देकर श्रोत्र का विषय शब्द माना है।<sup>157</sup> जयमंगलाकार ने श्रोत्र की शाब्दिक व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि जिससे सुना जाता है उस इन्द्रिय को श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं।<sup>158</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र श्रोत्रेन्द्रिय का वर्णन करते हुये कहते हैं कि 'शब्दोपलब्धि' हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय कहलाती है।<sup>159</sup> युक्तिदीपिकाकार ने कहा है कि श्रोत्र (कान) का शब्द विषय के ज्ञान का सम्बन्ध होने के कारण उसे श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं।<sup>160</sup>

**घ्राणेन्द्रिय-** आचार्य माठर ने 'घ्राण' का विषय 'गन्ध' माना है।<sup>161</sup> गौडपादाचार्य ने भी माठराचार्य के भाँति ही कोई विशिष्ट परिभाषा न देकर घ्राण ( नासिका ) का विषय गन्ध माना है।<sup>162</sup> जयमंगलाकार ने घ्राण की शाब्दिक व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि जिससे सूँघा जाता है उसे इन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय कहते हैं।<sup>163</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र घ्राणेन्द्रिय का वर्णन करते हुये कहते हैं कि 'गन्धोपलब्धि' हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय

---

<sup>154</sup> तत्र रूपग्रहणलिङ्गं चक्षुः । सा. तत्त्वकौ., सां.का. २६।

<sup>155</sup> यु.दी., ष.आ., सां.का. २६।

<sup>156</sup> मा.वृ.,सां. का. २६।

<sup>157</sup> गौ.भा., सां. का. २६।

<sup>158</sup> श्रोत्रं येन श्रूयते। ज.म.सां.का.२६।

<sup>159</sup> शब्दग्रहणलिङ्गं श्रोत्रम्। सा. तत्त्वकौ., सां.का. २६।

<sup>160</sup> यु.दी., ष.आ., सां.का. २६।

<sup>161</sup> मा.वृ.,सां. का. २६।

<sup>162</sup> गौ.भा., सां. का. २६।

<sup>163</sup> नासिका= यया घ्रायते। ज.म.सां.का.२६।

घ्राणेन्द्रिय कहलाती है ।<sup>164</sup> युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि घ्राण ( नासिका ) का गन्ध विषय के ज्ञान का सम्बन्ध होने के कारण उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं ।<sup>165</sup>

**रसनेन्द्रिय-** आचार्य माठर ने 'रसनेन्द्रिय' ( जिह्वा ) का विषय 'रस' कहा है ।<sup>166</sup> गौडपादाचार्य ने भी माठराचार्य के भाँति ही रसनेन्द्रिय के विषय में कोई विशिष्ट परिभाषिक प्रस्तुति न करके रसनेन्द्रिय ( जिह्वा ) का विषय रस माना हैं ।<sup>167</sup> जयमंगलाकार ने रसना की शाब्दिक व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि जिससे आस्वादन किया जाता है उसे इन्द्रिय को रसनेन्द्रिय कहते हैं ।<sup>168</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र रसनेन्द्रिय का वर्णन करते हुये कहते हैं कि 'रसोपलब्धि' हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय रसनेन्द्रिय कहलाती है ।<sup>169</sup> युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि रसना (जिह्वा) का रस विषयक ज्ञान होने के कारण उसे रसनेन्द्रिय कहते हैं ।<sup>170</sup>

**त्वगिन्द्रिय-** आचार्य माठर ने 'त्वक्' (त्वचा) का विषय 'स्पर्श' कहा है ।<sup>171</sup> गौडपादाचार्य जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है अतएव यह स्पर्शन त्वगिन्द्रिय है उसका वाचक सिद्ध होने से स्पर्शन शब्द इसिलिए स्पर्शनकनीति पढा गया हैं ।<sup>172</sup> जयमंगलाकार ने 'त्वक्' की शाब्दिक व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि जिससे स्पर्श किया जाता है उस इन्द्रिय को स्पर्शेन्द्रिय कहते हैं ।<sup>173</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र स्पर्शेन्द्रिय का वर्णन करते हुये कहते हैं

---

<sup>164</sup> गन्धग्रहणलिङ्गं घ्राणम् । सां. तत्त्वकौ., सां.का. २६।

<sup>165</sup> यु.दी., ष.आ., सां.का. २६।

<sup>166</sup> मा.वृ.,सां. का. २६ ।

<sup>167</sup> गौ.भा., सां. का. २६ ।

<sup>168</sup> रसनं येन रस्यते। ज.म.सां.का.२६ ।

<sup>169</sup> रसग्रहणलिङ्गं रसनम् । सां. तत्त्वकौ., सां.का. २६।

<sup>170</sup> यु.दी., ष.आ., सां.का. २६।

<sup>171</sup> मा.वृ.,सां. का. २६ ।

<sup>172</sup> स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, तेनेदं पठ्यते-स्पर्शनकानीति। गौ.भा., सां. का. २६ ।

<sup>173</sup> त्वमग् यया स्पृश्यते। ज.म.सां.का.२६ ।

कि 'स्पर्शोपलब्धि' हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय त्वगिन्द्रिय कहलाती है ।<sup>174</sup>  
युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि त्वक् (त्वचा) से स्पर्श विषयक ज्ञान होने के कारण उसे स्पर्शेन्द्रिय कहते हैं ।<sup>175</sup>

#### (क.२) कर्मेन्द्रिय निरूपण-

**वागिन्द्रिय-** आचार्य माठार कहते हैं कि बोलने(वाणी) का कार्य जिस इन्द्रिय के द्वारा होता है वह वागिन्द्रिय कहलाती है ।<sup>176</sup> गौडपादाचार्य भी कहते हैं कि बोलने का कर्म होने के कारण वागिन्द्रिय कहा जाता है ।<sup>177</sup> जयमंगलाचार्य ने कहा है कि कण्ठ में स्थित इन्द्रिय वागिन्द्रिय कही जाती है। तथा वागिन्द्रिय के नाना प्रकार से वर्णोच्चारण आदि कर्म है ।<sup>178</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि कण्ठ, तालु इत्यादि स्थान में निवास करने वाली इन्द्रिय को वागिन्द्रिय कहते हैं । जिसका व्यापार 'वचन' है ।<sup>179</sup> युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि जिससे कुछ कहा जाय, उसे वचन कहते हैं । अतएव पद, वाक्य, श्लोक या ग्रन्थ के रूप में जो वर्णों का समूह और अर्थ प्रतीति कराने में समर्थ हैं वही वागिन्द्रिय का विषय हैं अन्य नहीं ।<sup>180</sup>

**पाणीन्द्रिय-** माठराचार्य कहते हैं कि ग्रहण करने का कार्य ( कर्म ) पाणि अर्थात् हाथों का है ।<sup>181</sup> आचार्य गौडपाद भी माठराचार्य की तहर ही कहते हैं कि हाथों ( पाणि ) से नाना

---

174 स्पर्शग्रहणलिङ्गं त्वक्। सां. तत्त्वकौ., सां.का. २६।

175 यु.दी., ष.आ., सां.का. २६।

176 वाक् वदतिकर्म, मा.वृ.,सां. का. २६ ।

177 वाग्वदति, वाचो वचनम्, गौ.भा., सां. का. २६, २८ ।,

178 तत्र वागिन्द्रियं कण्ठस्थम्।, तत्र वागिन्द्रियस्य नानाविधवर्णोच्चारणं कर्म। ज.म.सां.का. २६, २८ ।

179 कण्ठताल्वादिस्थानमिन्द्रियं वाक्, तस्या वृत्तिर्वचनम्। सां. तत्त्वकौ., सां.का. २८।

180 तत्रोच्यतेऽनेनेति वचनम्। तस्माद् य एवार्थप्रत्यायनसमर्थो वर्णसमुदायः पदवाक्यश्लोकग्रन्थलक्षणः, स वागिन्द्रियस्यार्थो नान्यः। यु.दी., स.आ., सां.का. २८।

181 हस्तौ ग्रहणकर्माणौ... मा.वृ.,सां. का. २६ ।

प्रकार का व्यापार करना । तथा दोनों हाथों आदान पाणीन्द्रिय कहा जाता हैं ।<sup>182</sup> जयमंगलाकार कहते हैं कि हाथों से आदान-प्रदान करना ही पाणीन्द्रिय है ।<sup>183</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र का मत प्राप्त नहीं होता है । युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि जिससे कुछ पकड़ा जाय, उसे आदान कहते हैं । आङ् उपसर्ग अभिविधि अर्थ में है । अतः जो प्रक्षालन, परिमार्जन, उपस्पर्शन, अध्ययन ( पठन ), प्रहरण, शिल्प ( कारीगरी ), व्यायाम करना, यह सब कुछ ग्रहण है । जो पाणीन्द्रिय का विषय हैं अन्य नहीं ।<sup>184</sup>

**पादेन्द्रिय-** आचार्य माठर पादेन्द्रिय को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि पैरों का कर्म (कार्य) विषम समनिम्नोन्नत भूमि ( पृथिवी ) देश में चलना ।<sup>185</sup> गौडपादाचार्य कहते हैं कि गमन और आगमन पाद ( पैर ) का कर्म हैं । अथवा पैरों के द्वारा विहरण करना ।<sup>186</sup> जयमंगलाकार विहरण पद को स्पष्ट करते हैं कि विहरण का तात्पर्य है देशान्तर ( परदेश ) पाद ( पैर ) से गमन ।<sup>187</sup> विहरण शब्द को लेकर युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि विशिष्ट हरण को विहरण कहा जाता हैं अतएव जो सम-विषम ऊच्च-निम्न स्थान पर चलना ( परिवर्तन ) और भ्रमण करना , नाट्य एवं व्यायाम इत्यादि है, वो ही पादेन्द्रिय का विषय है, अन्य नहीं ।<sup>188</sup>

**पायु इन्द्रिय-** आचार्य माठर कहते हैं कि ठीक से सेवन किये गए अन्नोदक के मल का उत्सर्गकरना ।<sup>189</sup> गौडपादाचार्य भी कहते हैं मलोत्सर्जन करना पायु इन्द्रिय का कर्म है

<sup>182</sup> हस्तौ नाना व्यापारं कुरुतः।, हस्तयोरादानं ।, गौ.भा., सां. का. २६, २८ ।

<sup>183</sup> आदेयस्यादानं पाण्योः ज.म.सां.का. २८ ।

<sup>184</sup> आदीयतेऽनेनेत्यादनम् । आङ्भिविध्यर्थे प्रयुज्यते। ततश्च यदेव प्रक्षालनपरिमार्जनोपस्पर्शनाध्ययन-प्रहणशिल्पव्यायामादि कृत्स्नं ग्रहणं स इन्द्रियार्थो नान्यः। यु.दी., स.आ., सां.का. २८।

<sup>185</sup> पादौ विषमसमनिम्नोन्नतभूप्रदेशेषु क्रामतः। मा.वृ.,सां. का. २६ ।

<sup>186</sup> पादौ गमनाऽगमनम्।, पादयोर्विहरणं । गौ.भा., सां. का. २६, २८ ।

<sup>187</sup> विहरणं-देशान्तरगमनं पादयोः। ज.म.सां.का. २८ ।

<sup>188</sup> विशिष्टं हरणं विहरणम्। अतश्च यदेव समविषमनिम्नोन्नतचङ्क्रमणपरिवर्तननाट्यव्यायामादिः स इन्द्रियार्थो नान्यः। यु.दी., स.आ., सां.का. २८।

<sup>189</sup> पायुर्यथाभुक्तानोदकमलमुत्सृजति। मा.वृ.,सां. का. २६ ।

।<sup>190</sup> जयमंगलाकार कहते हैं कि आहार का मालोत्सर्जन ही पायु इन्द्रिय का कार्य है ।<sup>191</sup> युक्तिदीपिकाकार उत्सर्ग शब्द की शब्दिक व्युत्पत्ति दर्शाते हुये कहते हैं कि उत्कृष्ट सर्ग उत्सर्ग है क्योंकि जो खाये पिये का परिपाक होने पर निर्गम मार्ग मल का त्याग है उसे ही पायु (गुदा) इन्द्रिय का विषय कहते हैं । अन्य को नहीं ।<sup>192</sup>

उपस्थेन्द्रिय-उपस्थेन्द्रिय काम ( कार्य ) आनन्द करना है तात्पर्य है पुत्रोत्पन्न करना ।<sup>193</sup> गौडपादाचार्य भी यही कहते हैं कि उपस्थ पुत्रोत्पत्ति के द्वारा आनन्द प्रदान कराता है । दूसरे शब्दों में उपस्थ का काम सन्तानोत्पत्ति विषयक व्यापार है ।<sup>194</sup> जयमंगलाकार कहते हैं कि आनन्द ही आनन्द अर्थात् शुक्र की विशेष रूप से सृष्टि अह्लाद ( उत्कृष्ट ) होती है संसृष्टि सुख दायक होती है यही उपस्थेन्द्रिय का स्वभाव हैं ।<sup>195</sup> युक्तिदीपिकाकार उपस्थेन्द्रिय को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि पर्याप्तरूप में आनन्द को आनन्द कहा जाता है । क्योंकि विशिष्ट सुख की अनुभूति या अभिनिष्पत्ति है । वही विषय है अन्य नहीं ।<sup>196</sup>

(क.३)मन-इन्द्रिय- माठराचार्य कारिकांश प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि यहाँ मन की स्थिती उभयात्मक है । वह मन कर्मेन्द्रियों में कर्मेन्द्रिय हैं । तथा बुद्धिन्द्रिय में बुद्धिन्द्रिय है । यथा-देवदत्त गोपालो के मध्य गौ सेवा का कर्म ( करता ) हैं, एवं पहलवानों के साथ में पहलवानी का कर्म करता हैं । प्रश्नात्मक शैली में कहते हैं कि यह कैसे? उत्तर देते हुये कहते हैं क्योंकि बुद्धिन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की सङ्कल्पना मन के द्वारा होती है । इसीलिए

---

<sup>190</sup> पायुरुत्सर्ग करोति। गौ.भा., सां. का. २६।

<sup>191</sup> उत्सर्गः= आहारमलस्योत्सर्जनं पायोः। ज.म.सां.का.२८ ।

<sup>192</sup> एवमुत्कृष्ट सर्ग उत्सर्गः अतश्च य एवाऽशितपीतविपरिणामस्य सम्यक्स्त्रोतोमार्गानुसारिणो विसर्गः स इन्द्रियार्थो नान्यः। यु.दी., स.आ., सां.का. २८।

<sup>193</sup> उपस्थ आनन्दं करोति पुत्रमुत्पादयतीत्यर्थः। मा.वृ.,सां. का. २६ ।

<sup>194</sup> उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या, उपस्थस्यानन्दः सुतोत्पत्तिविषया वृत्तिरिति सम्बन्धः। गौ.भा., सां. का. २६,२८।

<sup>195</sup> आनन्दनमानन्दो-ह्लादः शुक्रविसृष्टिसंसृष्टिसुखं तदुपस्थेन्द्रियवृत्तिः। ज.म.सां.का.२८ ।

<sup>196</sup> एवमभिव्याप्यानन्दनमानन्दः। ततश्च य एवासाधारणप्रीतिनयनाभिनिष्पत्तिलक्षणः, स इन्द्रियार्थो नान्यः। यु.दी., स.आ., सां.का. २८।

मन को उभयात्मक कहते हैं। और भी साधर्म होने से मन इन्द्रिय है। सह धर्म के भाव को साधर्म्य या समान धर्मक कहते हैं। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के समान मन का भी सात्त्विक अहंकार से प्रदुर्भावित होत है। अतः मन इन्द्रिय है। प्रश्नात्मक भाव में कहते हैं यदि मन इन्द्रिय है तो इस मन की वृत्ति क्या है? उत्तर देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय का व्यापार या वृत्ति शब्दादि ग्रहण करना है और कर्मेन्द्रिय का व्यापार (वृत्ति) वचनादि है। उसी तरह मन का भी सङ्कल्प करना ही असाधारण व्यापार है। इस प्रकार आचार्य ने एकादश इन्द्रियों व्यापार के साथ व्याख्यान कर दिया हैं।<sup>197</sup> आचार्य गौडपाद<sup>198</sup> एवं जयमंगलाकार<sup>199</sup> का भी मत माठराचार्य के समान ही हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र साधारण और असाधारण(विशिष्ट) दो प्रकार से मन का व्याख्यान करते हैं। कहते हैं कि एकादश इन्द्रियों में मन उभयात्मक हैं। अर्थात् वह मन ज्ञानेन्द्रिय और

<sup>197</sup> अत्रोच्यते-उभयात्मकमत्र मनः। कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत्, बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियम्। यथा देवदत्तो गोपालमध्ये स्थितो गोपालत्वं कुरुते मल्लमध्ये स्थितो मल्लत्वं कुरुते। कस्मात्? यस्माद् बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिं सङ्कल्पयति कर्मेन्द्रियाणाञ्च। तस्मादुभयात्मकं मनः। किञ्चान्यत्-इन्द्रियं च साधर्म्यात्। सहधर्मस्य भावः साधर्म्यम्। यस्मात् कर्मेन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि च सात्त्विकादहङ्कारादुत्पद्यन्ते, मनोऽपि तस्मादेव उत्पद्यते। तस्मादिन्द्रियं मनः। तत्र मनसः का वृत्तिः? सङ्कल्पो वृत्तिः। बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो वृत्तयः, कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः। एवमेकादशेन्द्रियाणि सह वृत्तिभिरव्याख्यातानि। मा.वृ., सां. का. २७।

<sup>198</sup> मन एकादशकं किमात्मकं, किं स्वरूपञ्चेति? तदुच्यते—अत्र इन्द्रियवर्गे मन उभयात्मकम्। बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत्, कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत्। कस्मात्? बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्तिं कल्पयति, कर्मेन्द्रियाणाञ्च, तस्मादुभयात्मकं मनः। सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम्। किञ्चान्यदिन्द्रियञ्च, साधर्म्यात् समानधर्मभावात्, सात्त्विकादहङ्कारात् बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्यं प्रति, तस्मात् साधान्मनोऽपीन्द्रियम्। एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि- सात्त्विकाद्वैकृता-दहङ्कारादुत्पन्नानि। तत्र मनसः का वृत्तिरिति? सङ्कल्पो वृत्तिः। बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो वृत्तयः, कर्मेन्द्रियाणां वचनादयः। गौ.भा., सां. का. २६।

<sup>199</sup> एकादशकमिन्द्रियं दर्शयन्नाह-उभयात्मकमत्र मन इत्यादि। अत्रेत्यस्मिनिन्द्रियवशे मन उभयात्मकम् उभयस्वभावम्। बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च स्वस्वविषयग्रहणकाले बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चेत्यर्थः। उभयत्राप्यस्य व्यापारादितिलक्षणं तदित्याह-सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम्, इदं नेदमिति। कथमिन्द्रियमित्याह-इन्द्रियञ्च साधादित्यादि। इन्द्रियैस्तुल्यत्वादित्यर्थः। यथान्यदिन्द्रलिङ्गं तथा मनोऽपीत्यर्थः। ज.म.सां.का. २८।

कर्मेन्द्रिय भी है क्योंकि मन से संयोगाश्रय होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक् इत्यादि इन्द्रियाँ स्व स्व विषय में प्रवृत्त होती हैं। अन्य प्रकार से नहीं।<sup>200</sup> आचार्य मिश्र अब असाधारण लक्षण करते हुए कहते हैं कि सङ्कल्प करने वाला मन है अतः सङ्कल्प से मन लक्षित होता है। इन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु में 'यह है' इस तरह अविविक्त रूप अर्थात् सामान्य और विशेष रहित अथवा अस्पष्ट रूप से प्रतीत होने पर मन के द्वारा 'यह वस्तु ऐसी ही है एवं ऐसी नहीं' इस तरह उनका सङ्कल्प ( विशेषण-विशेष्य रूप ) से स्पष्ट ज्ञान होता है। पूर्व वृद्धाचार्यों को उद्धृत करके हुये कहते हैं कि पहले लोगों को अविकल्पित अर्थात् साधारण और विशेष से रहित वस्तु-मात्र का स्पष्ट रहित प्रत्यक्ष होता है। फिर मन के द्वारा साधारण और असाधारण विकल्पों से युक्त (सविकल्पक) प्रत्यक्ष होता है। वह इस भाँती है- पहले बालक, मूक आदि के ज्ञान के समान ही वस्तु सामान्य विषयक अर्थात् विशेष्य विशेषण भाव से रहित निर्विकल्पक ज्ञान होता है। तत्पश्चात् (नीलत्व, घटत्व इत्यादि) सामान्य धर्मायुक्त वस्तु का स्पष्ट ज्ञान होता है एवं यह भी प्रत्यक्ष है। (श्लो.वा.) यह सङ्कल्प लक्षण व्यापार मन को सजातीय=अहंकार आदि और विजातीय=तन्मात्रा आदि पदार्थों से मन को पृथक् से यह मन स्पष्ट लक्षण हैं।<sup>201</sup>

<sup>200</sup> एकादशमिन्द्रियमाह-उभयात्मकमिति। एकादशस्विन्द्रियेषु मध्ये मन उभयात्मकम्, बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च; चक्षुरादीनां वागादीनाञ्च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्व-विषयेषु प्रवृत्तेः। सां. तत्त्वकौ., सां.का. २७।

<sup>201</sup> तदसाधारणेन रूपेण लक्षयतिसङ्कल्पकमत्र मनः इति। सङ्कल्पेन रूपेण मनो लक्ष्यते। - आलोचितमिन्द्रियेण 'वस्त्वदम्' इति सम्मुग्धम् 'इदमेवम्, नैवम्' इति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावत्। यदाहुः सम्मुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग्गुल्लन्त्यविकल्पितम्। तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः॥इति। तथा हि- 'अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम्॥ ततः परं पुनर्वस्तु धर्मजात्यादिभिर्यया। बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥इति। सोऽयं सङ्कल्पलक्षणो व्यापारो मनसः समानासमानजातीयाभ्यां व्यवच्छिन्दन् मनो लक्षयति। सां. तत्त्वकौ., सां.का. २७।

(क.४) पञ्चतन्मात्रा- आचार्य माठर ने भूतादि सज्ञा वाले तामास अहंकार से उद्भूत जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पञ्चतन्मात्राओं को ही अविशेष कहते हैं। यह सुखलक्षणा युक्त पञ्चतन्मात्रायेँ देवताओं के विषय हैं यद्यपि इनमें भी रज और तम गुण रहते हैं। परन्तु सत्व-गुण उत्कट होता है इसीलिए इन्हें अविशेष कहते हैं।<sup>202</sup> आचार्य गौडपाद,<sup>203</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद<sup>204</sup> और आचार्य वाचस्पति मिश्र<sup>205</sup> का भी यही मत है। युक्तिदीपिकाकार कहते कि जो पञ्चतन्मात्र अहंकार से उद्भूत होते हैं वही तन्मात्र अविशेष हैं। प्रश्न करते हुए कहते हैं कि वह तन्मात्र कौन है ? उत्तर देते हेये कहते हैं कि शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, और गन्धतन्मात्रा हैं। पुनः प्रश्न करते हैं कि अविशेष को तन्मात्र कैसे कहते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि सजातीय विशेष न होने से यह तन्मात्र है स्थूल शब्द के समतुल्य शब्दतन्मात्र में शब्दजातीयत्व के न रहने पर भी उसमें उदात्त-अनुदात्त, स्वरित-अनुनासिकत्व आदि विशेष रहित हैं अतएव वह शब्दतन्मात्रा कहलाता है। स्पर्शतन्मात्र में स्पर्शजातीयत्व रहने पर भी स्थूलस्पर्श के समतुल्य मृदु-कठिनत्वादि विशेष रहित वह स्पर्शतन्मात्र है। इसी तरह रूपतन्मात्र में रूपजातीयत्व रहने पर भी उसमें शुक्लत्व और कृष्णत्व आदि विशेष रहित होने से वह रूपतन्मात्रा कहलाता है। रसतन्मात्र में रसजातीयत्व रहने पर भी उसमें

202 यानि भूतादिसंज्ञात्तामसादहङ्कारादुत्पन्नानि पञ्च तन्मात्राणि शब्दादीनी तान्यविशेषा इत्युच्यन्ते। देवानां तन्मात्राणि सुखलक्षणा विषयास्तत्रापि रजस्तमसी स्तः किं तु तत्र सत्त्वमुत्कटत्वेन वर्तते तस्मादविशेषा इत्युच्यन्ते। मा.वृ., सां. का. ३८।

203 यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रम्-एतान्यविशेषा उच्यन्ते। देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः। गौ.भा., सां. का. ३८।

204 तत्र के विशेषाः केऽविशेषाश्चेत्यत्राह—तन्मात्राणीत्यादि। सूक्ष्मविषयास्तन्मात्राणीत्युच्यन्ते। तैर्न कश्चिद्विशिष्यत इत्यविशेषाः। यथा सूक्ष्मतृणाग्रावस्थितं तेजो न लक्ष्यते, न च किञ्चित् प्रकाशयति, तद्वत् तेऽप्यविशेषाः। ज.म.सां.का. ३८।

205 शब्दादितन्मात्राणि सूक्ष्माणि। न चैषां शान्तत्वादिरस्ति उपभोगयोग्यो विशेष इति मात्रशब्दार्थः। सां. तत्त्वकौ., सां.का. ३८।

स्थूल के सादृश्य मधुत्व और अम्लत्व इत्यादि विशेष रहित होने से वह रसतन्मात्रा कही जाती है। इसी तरह गन्धतन्मात्र में गन्धजातीयत्व रहने पर भी उसमें स्थूल के सादृश्य सुरभित्व और सुगन्धत्व इत्यादि विशेष रहित होने से वह रसतन्मात्रा कहते हैं।<sup>206</sup>

(१.१९-२३)पञ्चमहाभूत- शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं के द्वारा आकाशादि पञ्चमहाभूत पूर्वपूर्वगुणानुप्रवेश से क्रमानुसार एक दो तीन चार और पाँच गुणवाले उद्भूत होते हैं। उन्हीं को विशेष कहते हैं। तथा यह मनुष्यों के विषय हैं। और शान्त घोर मूढ धर्मी हैं। इनमें आकाश, शान्त घोर मूढ धर्म वाला है। शान्त का तात्पर्य है सुख लक्षण वाला। यथा- यदि कोई सङ्कीर्ण बन्द प्रकोष्ठ से बाहर निकल कर अवकाश में आया तो उसके लिए आकाश के सुखदायक होने से शान्त हैं। तथा वही आकाश शीतोष्ण और वात के संयोग होने से दुःखदायक घोर हैं। तथा रास्ते में चलने वाले भयभीत मार्ग से अपरिचित मात्र आकाश का ही सर्वत्र आलोकन करने वाले पुरुष के लिए मूढ हैं। वायु भी इसी तरह तीन तरह का हैं। यथा- वातायन से प्रवेश करने वाली वायु घर में रहने वाले के लिए शान्त है पुनः गर्मी में उसी वातायन से प्रवेश करने वाली लू युक्त वायु दुःखदायक होने से घोर है। और वही वायु शीतकाल में शीतदायक होने से मूढ हैं। इसी प्रकार अग्नी भी शीत से समय शान्त हैं। तथा ग्रीष्म ऋतु में तापोत्पादक होने से घोर हैं। दाह आदि में प्रवृद्ध हुआ अग्नि मोह दायक होने से मूढ हैं। इसी तरह जल धार्मिक कार्य हेतु सुखद होने से शान्त है। हेमन्त ऋतु में दुःख दायक होने से घोर हैं। एवं समुद्र मध्य स्थित तीर को देखने वाले पुरुष के लिए मोहदायक होने से मूढ हैं। पृथ्वी भी इसी प्रकार नवीन हरी-

---

<sup>206</sup> यानि तन्मात्राणि पञ्चाहङ्कारादुत्पद्यन्त इति प्रागपदिष्टम्। ते खल्वविशेषाः। कानि पुनस्तन्मात्राणीत्युच्यते-शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मानं गन्धतन्मात्रमिति। कथं पुनस्तन्मात्राणीति? उच्यते-तुल्यजातीयविशेषानुपपत्तेः। अन्ये शब्दजात्यभेदेऽपि सति विशेषा उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकादयस्तत्र न सन्ति. तस्मा. च्छब्दतन्मात्रम्। एवं स्पर्शतन्मात्रे मृदुकठिनादयः। एवं रूपतन्मात्रे शुक्लकण्ठादयः। एवं रसतन्मात्रे मधुराऽम्लादयः। एवं गन्धतन्मात्रे सुरभ्यादयः। तस्मात्तस्य तस्य गणस्य सामान्यमेवात्र, न विशेष इति तन्मात्रास्वेतेऽविशेषाः॥ यु.दी., अ.आ., सां.का. ३८।

भरी घास से सम्पन्न होने से वर्षाकाल सुखोत्पादक होने से शान्त हैं। ग्रीष्म काल में गर्म वालुका युक्त होने से घोर हैं। तथा मार्ग से अनभिज्ञ, ग्राम, प्राणी समुदाय को नहीं देखने वाले यात्री के लिए मूढ हैं। तथा देवताओं के विषय विशेष रहित होते हैं। आशय यह है कि तन्मात्र संज्ञक मात्र आनन्दमय, शान्त, घोर अवस्थाओं से शून्य, प्राकृतिक माधुर्यामृत स्वरूप, लौकिक शर्कातिरिक्त कटु इत्यादि रसयुक्त मिश्रित रहित सुन्दर दुग्ध के सादृश्य और विशेष विषय जल के सादृश्य तत्तत् आश्रय के अनुसार मधुर, लवण, कटु, कषाय आदि की तरह होते हैं। देवताओं के मात्र विशेष रहित तन्मात्र सज्ञा वाले सुख लक्षण वाले ही होते हैं। और मनुष्यों के विषय आकाश इत्यादि भूतमय होने से पञ्चभूतों के सदृश्य सुख-दुःख मोहात्मक होते हैं।<sup>207</sup> गौडपादाचार्य का मत भी माठराचार्य के अनुकूल है।<sup>208</sup> जयमंगलाकार कारिकांश को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि तन्मात्रा से जिन पञ्च

207 अत्राह-तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। शब्ददिभ्यः पञ्चभ्यः आकाशादीनि पञ्च महाभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेकद्वित्रिचतुष्पञ्च गुणान्युत्पद्यन्ते। एते स्मृता विशेषाः। अत्राह-एतेषां किं लक्षणमिति? अत्रोच्यते-एतानि पञ्च महाभूतानि मनुष्याणां विषयाः। शान्ताः घोराः मूढाश्च। तत्राकाशं शान्तं घोरं मूढं च। शान्तं तावत् सुखलक्षणम्। यथा कश्चित् गर्भगृहात् निष्क्रान्तः अवकाशस्थितस्तस्य तदाकाशं सुखहेतुत्वाच्छान्तं स्यात्। तदेवोष्णशीतवातादिसंयोगात् दुःखत्वाद् घोरं स्यात्। पथि गच्छतः कान्दिशीकस्य केवलं सर्वत्राकाशं पश्यतो मार्गाद्यनभिज्ञस्य पुंसस्तदेव मूढं स्यात्। एवं वायौ त्रैविध्यम्। यथा गर्भगृहवासिनो वातायनद्वारेण वायुः प्रविशत् सुखहेतुत्वाच्छान्तः। तेनैवोष्णमासि सम्पन्नेन दुःखोत्पादकतया दुःखी स्यादित्यसौ वायुर्घोरः। स एव वायुः शीतकाले शीतं जनयन् मूढः। एवमग्निः शीतार्तस्य शान्तः। ग्रीष्मकाले तापातस्य घोरः। ग्रामादिदाहे प्रवृद्धोऽग्निः पुंसो मोहोत्पादकतया मूढः। एवमापो घर्तिस्य सुखदत्वाच्छान्तः। हेमन्ते दुःखदत्वाद् घोराः। समुद्रमध्यगतस्य पुंसः तीरमपश्यतो मोहहेतुत्वान्मूढाः। एवं पृथिवी नवशाद्वलोपचिता प्रावृषि सुखकारिणीति शान्ता। ग्रीष्मकाले उष्णबालुका घोरा। सैव पथिकस्य मार्गानभिज्ञस्य प्राणिग्रामाद्यपश्यतो मूढा। एवं देवानां निर्विशेषा विषयाः। तन्मात्रसंज्ञिता निर्विशेषाः केवला एवानन्दमयाः शान्तघोरमूढतयाऽविशिष्टाः स्वभावरूपाः शर्कराकटुतिक्तादिरसा निश्चितं स्वभावमाधुर्यामृता उपमेयसुखशालिक्षीरमिव। माधुर्यक्षारकट्वादिपार्थिवगुणसम्पृक्तं स्वभावरसं जलमिवामी विषयाः (?)। देवानामेवं निर्विशेषाः स्युः। तन्मात्रसंज्ञिताः सुखलक्षणा एव। मनुष्याणां वियदादिभूतमयत्वात् भूतानीव सुखदुःखमोहलक्षणास्ते इत्यर्थः॥ मा.वृ.,सां. का. ३८।

208 तेभ्यः पञ्चभ्यः तन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते एते स्मृताः विशेषाः। गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात्तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादा-काशमित्यवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतानि, एते विशेषाः= मानुषाणां विषयाः, शान्ताः

महाभूतों कि उत्पत्ति होती है वह विशेष कहे जाते हैं । शब्दतन्मात्रा का एक आकाश उत्पन्न होता हैं । और स्पर्शादि तन्मात्रा से दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवा गुण वायवादि उत्पन्न होते है । तथा विशिष्यन्त को विशेष कहते हैं । प्रश्नात्मक शैली मे कहते हैं कि उनके क्या स्वरूप हैं ? उत्तर देते हुये कारिकांश उद्धृत करते है कि वह शान्त घोर और मूढ है । शान्त अर्थात् सुखप्रद, घोर अर्थात् दुःखप्रद, मोह अर्थात् मूढ ।<sup>209</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र का मत भी माठराचार्य, गौडपादाचार्य, शङ्कराचार्य के अनुकूल ही है

|<sup>210</sup>

युक्तिदीपिकाकार का मत भी विस्तृत प्राप्त होता है। जो निम्न बिन्दु से युक्त हैं । पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न महाभूत को विशेष कहा है । तथा पञ्चमहाभूतों की क्रमशः प्रादुर्भाव एवं उनके गुणों की चर्चा करके अनुग्राहक के अन्य धर्मों की भी चर्चा की है तथा

---

सुखलक्षणाः, घोराः दुःखलक्षणाः, मूढाः मोहजनकाः। यथा आकाशं कस्यचिदनवकाशा-  
दन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति। तदेव शीतोष्ण-वातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति।  
तदेव पन्थानं गच्छतो वनमार्गद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति। एवं वायुर्घर्तिस्य शान्तो भवति, शीतार्तस्य  
घोरो, धूलिशर्कराविमिश्रो गतिमान् मूढ इति। एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम्। गौ.भा., सां. का. ३८।

209 तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्य इति। तन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते। एते स्मृता विशेषा इति।  
शब्दतन्मात्रादेकगुणमाकाशमुत्पद्यते। एवं स्पर्शादितन्मात्राद् द्वित्रिचतुःपञ्चगणा वाय्वादय उत्पद्यन्ते।  
तैश्च तन्मात्राणि। विशिष्यन्त इति विशेषाः। ते च कि स्वरूपा इत्याहशान्ताः घोराश्च मूढाश्चेति। -  
सुखप्=शान्ताःरदाः, घोराः दुःखप्रदाः, मूढाः मोहप्रदा इति। ज.म.सां.का.३८।

210 अविशेषानुक्त्वा विशेषान् वक्तुमुत्पत्तिमेषामाह-तेभ्यो भूतानीति। तेभ्यः तन्मात्रेभ्यो यथा  
साङ्ख्यमेकद्वित्रिचतुःपञ्चभ्यो भूतान्याकाशानिलानलसलिलावनिरूपाणि पञ्च पञ्चभ्यः तन्मात्रेभ्यः।  
अस्त्वेतेषामुत्पत्तिः विशेषत्वे किमायातमित्यत आह—एते स्मृताः विशेषाः इति। कुतः? शान्ताः घोराश्च  
मूढाश्च। चकार एको हेतौ, द्वितीयः समुच्चये। यस्मादाकाशादिषु स्थूलेषु सत्त्वप्रधानतया केचिच्छान्ताः  
सुखाः प्रकाशाः लघवाः, केचिद्रजःप्रधानतया धीराः दुःखा अनवस्थिताः, केचित्तमःप्रधानतया मूढाः  
विषण्णाः गुरवाः। तेऽस्मी परस्परव्यावृत्त्याऽनुभूयमाना विशेषा इति च स्थूला इति चोच्यन्ते। तन्मात्राणि  
त्वस्मदादिभिः परस्परव्यावृत्तानि नानुभूयन्ते, इत्यविशेषा इति सूक्ष्मा इति चोच्यन्ते। सां. तत्त्वकौ.,  
सां.का. ३८।

आकाश को अन्यभूतों का उपकारक बतलाया हैं। शान्त, घोर, मूढ की परिभाषाओं पर भी चर्चा की हैं।<sup>211</sup>

(२) अव्यक्त- आचार्य माठर प्राधान अर्थात् मूल प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं। तथा इस मूलप्रकृति को व्यक्त ( महत् इत्यादि २३ तत्त्व ) के प्रादुर्भाव का हेतु मानते हैं। क्योंकि बिना हेतु के कार्य की सिद्धि नहीं होता हैं।<sup>212</sup> आचार्य गौडपाद भी आचार्य माठर कि तरह अव्यक्त को प्रधान कहते हैं।<sup>213</sup> आचार्य शङ्कर अव्यक्त को स्पष्ट करते हैं कि अव्यक्त प्रधान को कहा जाता है क्योंकि वह किसी रूप से व्यक्त नहीं होने के कारण अव्यक्त है।<sup>214</sup> साङ्ख्यकारिकाकार अव्यक्त प्रमेय तत्त्व की सिद्धि के लिए कारिकांश १५-१६ को प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि महदादि व्यक्त कार्यों के परिणाम होने से, समन्वय से, स्वशक्ति से प्रवृत्त होने से, कारणकार्य में विभाग होने से तथा वैश्वरूप ( सम्पूर्ण जगत् ) के अविभाग से एक कारण अव्यक्त ( मूलप्रकृति ) जरूर है

---

211 उच्यते-यानि खलु तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। उत्पद्यन्ते-एते स्मृता विशेषाः। तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात्पृथिवी। तेभ्यो भूतानीत्येतावति वक्तव्ये 'पञ्च पञ्चभ्यः' इति ग्रहणं समसङ्ख्याकतस्तदुत्पत्तिज्ञापनार्थम्। तेनैकैकस्मात्तन्मात्रादेकैकस्य-विशेषस्योत्पत्तिः-सिद्धा।-ततश्च-यदन्येषामाचार्याणाम-भिप्रेतम्-एक-लक्षणेभ्यस्तन्मात्रेभ्यः परस्परानुप्रवेशादेकोत्तरा विशेषाः सृज्यन्ते इति तत्प्रतिषिद्धं भवति। किन्तर्हि-अन्तरेणापि तन्मात्रानुप्रवेशमेकोत्तरेभ्यो भूतेभ्य एकोत्तराणां भूतविशेषामुत्पत्तिः। तत्र शब्दगुणाच्छब्दतन्मात्रादाकाशमेकगुणम्, शब्दस्पर्श-गुणात्स्पर्शतन्मात्राद्-द्विगुणो-वायुः, शब्दस्पर्शरूप-गुणाद्रूपतन्मात्राद्विगुणं-तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणाद्रसतन्मात्राच्चतुर्गुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणाद् गन्धतन्मात्रात्पञ्चगुणा पृथिवी। अत्र च वायोः शीतः स्पर्श अपां च, तेजस उष्णः, अनुष्णाशीतः पृथिव्याः। रूपं च शुक्लं भास्वरं च तेजसोऽपां च, कृष्णं पृथिव्याः। रसो मधुरोऽपाम्, साधारणः पृथिव्याः। गन्धस्तु पार्थिव एव, तदवयवानुप्रवेशाद्भूतान्तरेषूपलभ्यते। इत्येते पृथिव्यादीनां धर्माः। अन्ये च परस्परानुग्राहकाः। के पुनस्त इत्याह-

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च। .....विशेषान्नायं संशयः॥  
तत्राकारादिभिर्धर्मः.....अतोऽविशेषा इत्युच्यन्ते। यु.दी., अ.आ., सां.का. ३८।

212 अव्यक्तं प्रधानम्। व्यक्तोत्पत्तिकारणम्। न कारणं कार्यमित्यस्य सिद्धिः। मा.वृ. सां.का. २।

213 अव्यक्तं प्रधानम्। गौ.भा., सां. का. २।

214 अव्यक्तं प्रधानम्। केनचिद्रूपेणाव्यक्तत्वात्। ज.म.सां.का. २।

।<sup>215</sup> क्योकि त्रिगुणात्मक स्वरूप होने से और एकरूप होने से ( महदादि व्यक्त तत्त्व ) प्रवृत्त होते हैं । यह एक-एक गुण के आश्रय-विशेष के कारण जल के समान परमिति ( परिणाम ) में भेद का आभास होता है । अतः अव्यक्त के कारण की सिद्धि होती है

।<sup>216</sup>

(३) 'ज्ञ'- आचार्य माठर<sup>217</sup>, आचार्य गौडपाद<sup>218</sup> और आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने 'ज्ञ' तत्त्व को पुरुष कहा है आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ज्ञ कि व्युत्पत्ति करते हुये कहते हैं कि जानने को ज्ञ कहते हैं ।<sup>219</sup>

साङ्ख्यकारिकाकार पुरुष प्रमेय तत्त्व की सिद्धि के लिए कारिका १७ को प्रस्तुत करते हैं कि संघटनात्मक समूह दूसरों के लिए होने से, त्रिगुण धर्मों से प्रतिकूल स्वभाव वाला होने के कारण अधिष्ठाता होने से, ( इह लौकिक वस्तुओं के ) भोक्ता की सत्ता सिद्ध होने के कारण तथा कैवल्य हेतु प्रवृत्ति होने से 'पुरुष है' यह सिद्ध होता है ।<sup>220</sup>

---

<sup>215</sup> भेदानां परिमाणात् समन्वयाच्छक्तिः प्रवृत्तेश्च ।

कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूपस्य ॥ सां.का. १५ ।

<sup>216</sup> कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।

परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ सां.का. १५ ।

<sup>217</sup> ज्ञः= पुरुषः । मा.वृ. सां.का. २ ।

<sup>218</sup> ज्ञः= पुरुषः । गौ.भा., सां. का. २ ।

<sup>219</sup> जानातीति ज्ञः= पुरुषः ज.म.सां.का. २ ।

<sup>220</sup> सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्यादधिष्ठानात् ।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च । सां. का. १७ ।

## द्वितीय अध्याय

### प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण

क.) प्रत्यक्ष लक्षण निरूपण

(१.) 'प्रत्यक्ष' रूप पौरुषेय बोध (प्रत्यक्ष प्रमा)

ख.) प्रत्यक्ष के भेद

(१.) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

(२.) सविकल्पक प्रत्यक्ष

ग.) बुद्धिवृत्ति और अध्यवसाय

घ.) प्रत्यक्ष बाधक हेतु

(१.) अतिदूरात्

(२.) सामीप्याद्

(३.) इन्द्रियघाता

(४.) मनोजनवस्थानात्

(५.) सौक्ष्म्यात्

(६.) व्यवधानाद्

(७.) अभिभवात्

(८.) समानाभिहारात्

## द्वितीय अध्याय

### प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपण

---

#### क.) प्रत्यक्ष प्रमाण लक्षण निरूपण

साङ्ख्यकारिकाकार प्रत्यक्ष का लक्षण निरूपित करते हैं “प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्”<sup>221</sup> “प्रतिविषयाध्यवसाय” को स्पष्ट करते हुए माठरवृत्तिकार कहते हैं कि पञ्चज्ञानेन्द्रिय ( श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रस, घ्राण ) का तत्तद्विषय के सन्निकर्ष से प्रस्फुरित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। यथाहि-

“विषयं विषयं प्रति योऽध्यवसायो नेत्रादीनामिन्द्रियाणां पञ्चानां रूपादिषु, तत् प्रत्यक्षं प्रतिपत्ति रूपम् दृष्टाख्यम्।<sup>222</sup>

गौणपाद भाष्यकार भी माठर के मतानुरूप प्रतिपादन करते हैं। कि ज्ञानेन्द्रियों को अपने विषय शब्दादि का अध्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। यथाहि-

“एताह-प्रतिविषयेषु = श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टम् प्रत्यक्षमित्यर्थः।<sup>223</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद “प्रतिविषयाध्यवसाय” इस पद की व्युत्पत्ति करते हैं “विषयं विषयं प्रतिविषयं, प्रतिविषयाध्यवसायः प्रतिविषयाध्यवसायः।<sup>224</sup> विषय का तात्पर्य शब्दादि, एवं अध्यावासाय का अर्थ बुद्धि है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका के द्वारा जो विशेष अवधारणा पूर्वक निश्चयात्मक बुद्धि ( ज्ञान ) उत्पन्न होती है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। यथाहि-

---

221 सां.का. ४।

222 मा.वृ. सां.का. ५।

223 गौ.भा. सां.का. ५।

224 ज.सं. सां.का. ५।

“विषयाः शब्दादयः, अध्यवसायो बुद्धिः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेषु यथाक्रमं श्रोत्रत्वक्क्षुर्जिह्वाघ्राणेन्द्रियद्वारेण विषेष्टावधारणप्रधाना या बुद्धिरुत्पद्यते तद् दृष्टम्, शुद्धत्वात् प्रमाणम् ।”<sup>225</sup>

तथा अनिश्चयात्मक ज्ञान को टीकाकार अप्रमाण्य की कोटी में रखते हैं, एवं उसके चार भेद कहते हैं- सव्यपदेश, सविकल्प, अर्थव्यतिरेकि, इन्द्रियव्यतिरेकि । यथाहि-

“अशुद्धत्वादप्रमाणम् । तच्चतुर्विधम् - सव्यपदेश सविकल्प, अर्थव्यतिरेकि, इन्द्रियव्यतिरेकि चेति ।”<sup>226</sup>

जैसे दूर से आते हुए किसी व्यक्ति को देखकर देवदत्त के स्वरूप वाला है ऐसा कहने वाले का ज्ञान सव्यपदेश ज्ञान है । तथा देवदत्त है या अन्य कोई ऐसा संशयात्मक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान है । तिमिर रोगी को दो चन्द्र दिखालाई देना अर्थव्यतिरेकि ज्ञान है, क्योंकि दो चन्द्र का सदा अभाव होता है । स्वप्न में देखे हुये ज्ञान या वस्तु का अभाव होने से वह मिथ्यात्मक ज्ञान कहलाता है अतः वह इन्द्रियव्यतिरेकि के अन्तर्गत है । यथाहि-

“तत्र दूरात् क्वचिदागच्छन्तं दृष्ट्वा देवदत्तसारूप्यं व्यपदिशति देवदत्तोऽयमिति या बुद्धिरुत्पद्यते तत्सविकल्पम्, संशयितत्वादप्रमाणम् । तैमिरिकस्य द्विचन्द्रदर्शनं तदर्थव्यतिरेकि, द्वितीयचन्द्राभावात् । यत् स्वप्नदर्शनं तदिन्द्रियव्यतिरेकि, निद्रोपप्लुतत्वादिन्द्रियाणाम् ।”<sup>227</sup>

तत्त्वकौमुदीकार “प्रतिविषयाध्यवासायः” पद को स्पष्ट करते हैं कि जो पृथक् विषयों में प्रवृत्त होता है उसे “प्रतिविषयम्” कहा जाता है । अर्थात् प्रतिविषय से तात्पर्य इन्द्रिय है । तथा वृत्ति से तात्पर्य है व्यापारूप मात्र अर्थात् सम्बन्धविशेष या सन्नकर्ष हैं । इस तरह

<sup>225</sup> तत्रैव, ज.मं. सां.का. ५ ।

<sup>226</sup> तत्रैव, ज.मं. सां.का. ५ ।

<sup>227</sup> तत्रैव, ज.मं. सां.का. ५ ।

“प्रतिविषय” इस पद का अर्थ है विषय से सम्बन्धित इन्द्रिय । तथा “प्रतिविषयाध्यवसाय” अर्थात् विषय से सम्बद्ध विषयी ( इन्द्रिय ) पर आश्रित अध्यवसायात्मक ज्ञान । यथाहि –

“विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम् । वृत्तिश्च सन्निकर्षः । अर्थ सन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः । तस्मिन् अध्यवसाय तदाश्रित इत्यर्थः।”<sup>228</sup>

अध्यवसाय बुद्धि के व्यापार ज्ञान को कहते हैं । यथाहि- “अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम्”<sup>229</sup>

वास्तव में समीपस्थ विषयीभूत इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर बुद्धिगत तमोगुण के ज्ञान रहित होने के साथ – साथ सत्वगुण की अतिशयता हो जाने से विषय का द्योतन होता है । उसी सत्वगुण की अतिशयता को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहते हैं । इसी वृत्ति अथवा ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । यथाहि-

“उत्पत्तिविषयाणांमन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्वसमुद्रेकः सोध्यवसाय इति वृत्तिरिति, चाख्यायते । इदं तत्प्रमाणम् ।”<sup>230</sup>

इसी दृष्ट ( प्रत्यक्ष ) प्रमाणभूत महत् ( बुद्धि ) तत्त्व से पौरुषेयबोधरूप परिणाम का आविर्भाव होता है । उसे प्रत्यक्ष प्रमा की संज्ञा दी जाती है । यथाहि – “अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहः तत् फलं प्रमा बोधः ।”<sup>231</sup>

युक्तिदीपिकाकार ने भी माठरवृत्ति और तत्त्वकौमुदी के समान ही प्रतिविषय शब्द का अर्थ “जो विषय-विषय सम्बद्ध है वह प्रतिविषय है” किया है तथा जो विषय से

---

<sup>228</sup> सा.तत्त्वकौ., सां.का. ५ ।

<sup>229</sup> तत्रैव, सा.तत्त्वकौ., सां.का. ५ ।

<sup>230</sup> तत्रैव, सा.तत्त्वकौ., सां.का. ५ ।

<sup>231</sup> तत्रैव, सा.तत्त्वकौ., सां.का. ५ ।

सम्बद्ध होने वाला है उसे इन्द्रिय कहा है इसमें जो अध्यवसाय ( निश्चय ) है वही प्रतिविषयाध्यवसाय हैं। यथाहि-

“विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम् । किन्तु ? इन्द्रियम् । तस्मिन् योऽध्यवसायः स प्रतिविषयाध्यवसायः।”<sup>232</sup>

तात्पर्य यहा है कि विषयी ( इन्द्रिय ) के विषय से सन्निकर्ष होने पर जो अध्यवसाय उद्भूत होता है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है अर्थात् इन्द्रिया जब विषय सम्बद्ध होती है तो इनकी विषयाकारवृत्ति के अनन्तर सत्वगुण की अधिकता होने पर रजस् एवं तमस् से रहित जो प्रकाश रूप उद्भूत होता है उसे दृष्ट प्रमाण कहते है। दृष्ट का अर्थ है प्रत्यक्ष। यथाहि –

“उत्पत्तिविषयाणांमन्द्रियाणां वत्युपनिपातिसत्त्वोद्रेकादरजस्तमस्कं यत्प्रकाशरूपम् तद् दृष्टमिति यावत् । तद् दृष्टं प्रत्यक्षमित्यर्थः ।”<sup>233</sup>

न्याय शास्त्र में तीन प्रकार का प्रत्यक्ष प्रमाण वर्णित किया गया है (क) इन्द्रिय (ख) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (ग) निर्विकल्पक ज्ञान। यथाहि –

“कदाचिद् इन्द्रियम्, कदाचित् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः कदाचितज्ज्ञानम् ।”<sup>234</sup>

न्यायशास्त्र में इन प्रमाणों का परिणाम यथाक्रम निर्विकल्प ज्ञान, सविकल्पक ज्ञान तथा हानोपादानोपेक्षा बुद्धि कहा गया है। साङ्ख्य दर्शन में न्याय दर्शन के सादृश्य त्रिविध दृष्ट प्रमाण तथा त्रिविध प्रमा नहीं प्राप्त होती है। इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप सहकारी कारण के कारण उत्पन्न बुद्धि “इदं पुस्तकम्” ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। “इदं पुस्तकं” यह तदाकाराकारित चित्तवृत्ति ही न्याय की भाषा में “व्यवसायात्मक ज्ञान” है। व्यवसाय का अर्थ है निश्चयात्मक ज्ञान तथा “अहं पुस्तकं जानामि” यह बुद्धि-परिणाम अथवा

<sup>232</sup> यु.दी.द्वि.आ.,सा.का. ५।

<sup>233</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.,सा.का. ५।

<sup>234</sup> त.भा. पृ. ५६

पुरुषनिष्ठ प्रमा पूर्व हुये व्यवसायात्मक ज्ञान का प्रतिबिम्ब है । इसे न्याय की भाषा में “अनुव्यवसायात्मक ज्ञान” कहते हैं । इन्द्रिय-सन्निधि से उद्भूत “इदं घटम्” यह तदाकाराकारित चित्तवृत्ति ज्ञान प्रमाण है एवं उसके अनुरूप “अहं घटं जानामि” यह पौरुषेय बोध प्रमा है । पौरुषेय बोध प्रतिबिम्ब है प्रमाण है । अतः साङ्ख्य के मतानुसार बुद्धि का विषयाकार – परिणाम स्वरूप होने से तदाकाराकारित चित्तवृत्तिरूप प्रमाण ही मात्र ज्ञान है तथा यहीं बुद्धि का ही धर्म है ,इन्द्रियादि का नहीं । यथाहि-

“इन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना जायमानोऽयं घटः इत्यादि बौद्धो बोधः प्रमाणम् तदनुरूपजायमानो घटमहं जानामीत्यादिपौरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः।”<sup>235</sup>

“प्रतिविषयाध्यवसाय” इस सम्पूर्ण पद का भाव साङ्ख्यचन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ ने भी “इन्द्रिय” कहा है । इससे बोध होता है कि साङ्ख्यचन्द्रिकाकार को “इन्द्रिय” ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप सम्मत है । ध्यातव्य है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में गौडपाद और वाचस्पति मिश्र के तात्पर्यों में भी सादृश्यता स्पष्ट दिखालायी पड़ती है । क्योंकि दोनों के मतानुसार इन्द्रिय निर्मित अध्यवसाय अथवा बोध ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, इन्द्रिय नहीं ।

प्रत्यक्ष के लक्षण में “अध्यवसाय” पद का ग्रहण करने से सन्देह का उन्मूलन किया गया है । क्योंकि संशय ( सन्देह ) अनेक - प्रकारक स्वरूप वाला होने के कारण अनिश्चयात्मक = अनध्यवसायात्मक होता है । परन्तु अध्यवसाय निःसंशयात्मक ज्ञान होता है । “प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्” लक्षण में “विषय” पद का ग्रहण होने से असत् ( सत्तारहित ) विषय वाले विपर्यय ( भ्रम ) ज्ञान का परिहार हो जाता है । “प्रति” पद के व्यवहार से इन्द्रिय एवं विषय का सन्निकर्ष ( सानिध्यम् ) बोधित होता है । अत एव अनुमान – स्मृति आदि निवारण हो जाता है । अतः स्वजातीय तथा विजातीय ज्ञान का व्यवच्छेदक होने से “प्रतिविषयाध्यवसायः” यह लक्षण सर्वथा दोष-रहित है । यथाहि-

<sup>235</sup> विद्वतो. सां.तत्त्वकौ. सां.का. ५ ।

“अत्राध्यवसायग्रहणेन संशयं व्यवच्छिनत्ति, संशयस्या-  
नवस्थितग्रहणत्वेनानिश्चितरूपत्वात् । निश्चयोऽध्यवसाय इति । चानर्थान्तरम् ।  
विषयग्रहणेन चासद्विषयं विपर्ययमपाकरोति। प्रति ग्रहणेन  
चेन्द्रियार्थसन्निकर्षसूचनादनुमानस्मृत्यादयश्च पराकृता भवन्ति तदेवं  
समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् प्रतिविषयाध्यवसायः इति दृष्टस्य सम्पूर्णं लक्षणम्  
।”<sup>236</sup>

अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ सन्निकर्षात्मक सान्निध्य होने पर जो अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान रूप बुद्धि – व्यापार है, वही प्रत्यक्ष ( दृष्ट ) प्रमाण है । सङ्क्षेपतया किसी विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो साक्षात् ज्ञान बुद्धि में प्रकट होता है वही “प्रत्यक्ष प्रमाण” है ।

### (१.) ‘प्रत्यक्ष’ रूप पौरुषेय बोध ( प्रत्यक्ष प्रमा )

प्रमाणात्मक वृत्तिरूप ज्ञान ( बुद्धि ) का चेतना में समर्पण ही साङ्ख्य के मतानुसार पौरुषेय बोध है । प्रमाणरूप बुद्धि का स्व-प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होने वाला यह अनुग्रह ही पौरुषेय प्रमा है । यथाहि -

“अन्तःकरणस्यायं स्वभावो यदिन्द्रियैरूपनीतान्विषयान्स्वस्वामिन आत्मने समर्पयति । यथाहुः – गृहीतान्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति । अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः ॥”<sup>237</sup>

जड प्रकृति से उद्भव के कारण चित्त-वृत्ति चेतना रहित तत्त्व है । अत एव बुद्ध्याधीन अध्यवसाय रूप विकार भी घट पट आदि के तुल्य ही अचेतन रूप है । इसी भान्ति चित्त-वृत्ति के सुख-दुःखादि फल भी अचेतन है । परन्तु पुरुष सुख-दुःखादि से अभाव वाला तथा चेतन है । साङ्ख्यशास्त्र में “पुरुष” को नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त निसर्ग

<sup>236</sup> सां.तत्त्वकौ.सां.का.५ ।

<sup>237</sup> वि.तो., सां.तत्त्वकौ.सां. का. ५

वाला माना गया है। इसलिए अनासक्त पुरुष का प्रकृति के साथ संसर्ग नहीं हो सकता। ध्यातव्य है कि ऐसे असङ्ग पुरुष को आसक्ता प्रकृति की अपेक्षा से “वृत्तज्ञ” भी कहा गया है परन्तु अनासक्त और मुक्त पुरुष “वृत्तज्ञ” नहीं हो सकता है। निराकरण के लिए साङ्ख्यप्रवचन भाष्य में वर्णित है-

“तथाहि प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषेऽपि सुखदुःखे स्तः । अन्यथा तयोः भोगत्वानुपपत्तेः । सुखादिग्रहणं हि भोगः । ग्रहणं च तदाकारता । स च कूटस्थचित्तौ बुद्धेरर्थाकारवत् परिणामो न सम्भवतीत्यगत्या प्रतिबिम्बस्वरूपतायामेव पर्यवस्यति अयमेव बृद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बो वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति योगसूत्रेणोक्तः ।”<sup>238</sup>

अर्थात् प्रतिबिम्बित पुरुष में सुख दुःख की अवस्थिति मान्य है। प्रकृत तथ्य को स्वीकार न करने से सुख दुःख का भोग्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। सुख दुःख की स्वीकारता ही भोग है। तल्लीनता ही ग्रहण है। इसलिए अर्थाकाराकारित बुद्धि का प्रतिबिम्ब कूटस्थ, चित्ति एवं अनासक्त पुरुष में होता है। योगशास्त्र “वृत्तिसारूप्य” से यही तात्पर्य स्पष्ट किया गया है। पुरुष का तदाकाराकारित बुद्धि-वृत्ति से उपरञ्जित होने में “स्फटिकमणि” का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। जैसे जपा प्रसून की समीपता से मणि रक्तवर्णमयी हो जाती है। तथा जपा प्रसून का सानिध्य न रहने पर रागशून्य हो जाती है। उसी तरह चित्तवृत्ति की व्यक्तता ( व्यक्त होने का भाव ) में साक्षी आत्मा का “वृत्तिसारूप्य” भाव प्रतीत होता है। तथा चित्त-तन्मय होने पर स्वरूपावस्थान हो जाता है। वस्तुतः दोनों अवस्था में साक्षी एक रूप में ही स्थित होता है।

पुरुष जिस समय बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है। तब बुद्धिगत सुख दुःखादि धर्मों से पुरुष भी सम्मिलित सा ज्ञात होता है। इस तरह चेतन पुरुष बुद्धि से उपकृत होता है एवं चेतन पुरुष के साथ ऐकरूप्य होने से बुद्धि और ज्ञान भी चेतन से ज्ञात होते हैं। यथाहि-

“यथा जपाकुसुमेन स्फटिकमणि रक्तोऽवस्थो भवति तन्निवृतौ च रागशून्यः स्वस्थो भवति तद्वदिति । तदुक्तं कौर्मे – यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलः स्फटिको जनैः । रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत् परमपुरुषः ॥”<sup>239</sup>

इस प्रसङ्ग में साङ्ख्यकारिकाकार का भी मत स्पष्ट है । यथाहि -

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ (सा.का.२०)

ख.) प्रत्यक्ष के भेद -

(१.) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष -

प्रक्रिया के भेद से दृष्ट ( प्रत्यक्ष ) को दो अङ्गों में विभक्त कर सकते हैं - लौकिक प्रत्यक्ष ( दृष्ट ) और अलौकिक प्रत्यक्ष ( दृष्ट ) । लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य है । “योगि-प्रत्यक्ष” को अलौकिक प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में गृहीत करते हुये वाचस्पति मिश्र निरूपित करते हैं -

“अस्मदादीनामविषयाः तन्मात्रालक्षणाः योगिनामूर्ध्वस्त्रोतसां च विषयाः।”<sup>240</sup>

वाचस्पति मिश्र के द्वारा स्पष्टतया निरूपित किया गया है कि सामान्य जन के लिये अविषय ही योगियों का विषय बन अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है । प्रस्तुत प्रकरण में टीकाकार निरूपित करते हैं कि योगीजनों का प्रत्यक्ष साधारण लोगो के समान बाह्य विषयी तथा विषय के सन्निकर्षाख्य सान्निध्य पर अविलंबित नहीं करता है। उसकी बुद्धि का सम्बन्ध कारण में लीन वस्तु के साथ हो जाता है । यथाहि -

“योगीनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः। लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः।”<sup>241</sup>

---

<sup>239</sup> तत्रैव, सा.प्र.भा.,पृ.१३२

<sup>240</sup> सां.तत्त्वकौ.सां.का.५ ।

<sup>241</sup> सां.सू. पृ.१९०-१९१

ध्यातव्य है कि उपलब्ध साङ्ख्यशास्त्रीय परम्परा में अलौकिक प्रत्यक्ष का अनुसन्धान स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं होता है। इसका हेतु कहा जा सकता है कि साङ्ख्य दर्शन की रचना साधारण लोगों के कल्याणार्थ हुई है। अलौकिक प्रत्यक्ष साधारण लोगों के मन में बैठाने में सहायक नहीं है अतः एव यहाँ पर विस्तृत विवेचन नहीं किया गया। किन्तु विवेचन की कमी में अलौकिक प्रत्यक्ष की अविद्यमानता न समझी जाए, तदर्थ योग-प्रत्यक्ष का ग्रहण किया गया है।

वाचस्पति मिश्र अलौकिक प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार प्रथम तो बाह्य विषयी का विषय से सम्बन्ध होता है। एतेन तद्विषय का ज्ञान होता है। तदन्तर बाह्य विषयी तज्ज्ञान को अतीन्द्रिय मन को समर्पित करती है। अतीन्द्रिय उसकी विशिष्टताओं का विश्लेषण करता है एवं उसे अहङ्कार को समर्पित करता है। अहङ्कार उसे अपने में संयुक्त कर लेता है और महत्तत्त्व को समर्पित कर देता है। फलस्वरूप महत् तत्त्व उसे अध्यवसायात्मक ( निश्चयात्मक ) ज्ञान में विपरिणत करती है। इस तरह प्रत्यक्ष की चार अवस्थाएँ हैं। विषयी-सन्निकर्ष से विषय का ज्ञान, अतीन्द्रिय मन से दृढ निश्चय, अहङ्कार से अभिमान एवं बुद्धि के द्वारा निश्चय। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है - निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मात्र इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष ( विषयी-विषय सम्बन्ध ) तक सीमित है। इसके पश्चात् प्रत्यक्ष की तीनों अवस्थाएँ सविकल्पक प्रत्यक्ष में सम्मिलित हैं। इसलिए कह सकते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान की आरम्भिक अवस्था है। इस प्रारम्भिक अवस्था में यही ज्ञान होता है कि “यदिदं किञ्चित् अस्ति।” यथा- जब अनभिज्ञ शिशु प्रथम बार शेर को देखता है जब वह उससे पूर्णतः अज्ञात होता है। वह उसे स्पर्श भी कर सकता है वस्तुतः यही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है लेकिन जब उसे अनभिज्ञ शिशु को यह ज्ञात हो जाएगा कि ये शेर नाम वाला है, खा लेगा, इसके पास रहना प्राणघातक है तो ये स्थिति निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की नहीं रहेगी।

इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है कि साङ्ख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण के द्वारा “निर्विकल्पक” का उल्लेख दसों इन्द्रियों के असाधारण वृत्तियों के उल्लेख क्रम में ( सा.का. २८ ) “आलोचन” शब्द के प्रयोग द्वारा किया है । वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसङ्ग पर विस्तृत विचार किया है । आलोचन का तात्पर्य स्पष्ट करते हुये साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीकार का वचन है कि “सम्मुग्धवस्तुमात्रदर्शनमालोचनमुक्तम्” । तदनुसार विशेषण-विशेष्य भाव के बिना “यह वस्तु” यह ज्ञान ही आलोचन है । अतीन्द्रिय ( मन ) का लक्षण स्पष्ट करते हुये मन के संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार का निरूपण करते हुये आचार्य वाचस्पति मिश्र के द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में मीमांसकों का मत उद्धृत कर तदनुरूप ही स्वमत की भी प्रतिपत्ति कराई गई । प्रस्तुत प्रसङ्ग द्रष्टव्य है -

“यदाहुः - सम्मुग्धं वस्तुमात्रं तु तु प्रागृह्णन्त्यविकल्पितम् । तत् सामान्य विशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः । इति । तथा हि - “अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम्” ।<sup>242</sup>

अर्थात् आदौ ज्ञाता को अविकल्पित अर्थात् सामान्य एवं विशेष से हीन वस्तु मात्र का स्पष्ट ( निर्विकल्पक ) प्रत्यक्ष होता है । तदनन्तर मन के द्वारा सामान्य एवं विशेष विकल्पों से युक्त उसका प्रत्यक्ष होता है । जैसे विषयी के द्वारा अविभाजित समस्त वस्तु के विषय में बाल, मूकादि के समान अस्पष्ट निर्विकल्पक ज्ञान होता है । तत्पश्चात् सामान्य धर्मों से युक्त वस्तु का निश्चित ज्ञान होता है ।

साङ्ख्यकारिकाकार ने रूपादि ( रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श ) विषयों के “अलोचनमात्र” अर्थात् अविविक्त ज्ञानमात्र को ही नेत्र, घ्राण इत्यादि पञ्चज्ञानेन्द्रियों का व्यापार माना है । यथाहि -

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।<sup>243</sup>

<sup>242</sup> सां.तत्त्वकौ.सां.का. २७।

तात्पर्य यह है कि नेत्र, घ्राण इत्यादि के विषय रूप, रस इत्यादि का प्रत्यक्ष “वस्तुज मात्र ज्ञान” है। इसी वस्तुज मात्र ज्ञान को निर्विकल्पक माना जाता है। इसलिए बुद्धीन्द्रियों से वस्तुसामान्यविषयक निर्विकल्पक ज्ञान आलोचन कहा जाता है। आचार्य वाचस्पति मित्र आलोचन ज्ञान को “समुग्धवस्तुदर्शन” कहते हैं किन्तु सम्मुग्धवस्तु दर्शन से यह अवबोध नहीं करना चाहिए कि यह आलोचन ज्ञान नेत्रेन्द्रिय से ही संयुक्त है। वास्तव में यह एक प्रकार की भ्रान्ति है, क्योंकि बुद्धिन्द्रिय से जो ज्ञान उद्भूत होता है वही सम्मुग्धवस्तु दर्शन मात्र कहा जाता है, वही आलोचन मात्र है। “समुग्धवस्तुदर्शन” में प्रयुक्त दर्शन शब्द की रामशंकर भट्टाचार्य व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वाक्य में प्रत्युक्त जो दर्शन शब्द है वह नेत्रेन्द्रिय से सम्बन्धित ज्ञानमात्रवाची नहीं है। अपितु सामान्य रूप से दर्शन शब्द बहिरिन्द्रियसाध्य ज्ञान मात्र के लिए ही प्रचलित है। इसलिए यहाँ सम्मुग्धबाह्यवस्तुज्ञानम् आलोचनम्” अर्थ ही ग्रहण करने योग्य है। सांख्य तत्त्वकौमुदीकार में कहा गया है सम्मुग्ध शब्द वस्तु का नहीं, अपितु वस्तु दर्शन का विशेषण है।<sup>244</sup> डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र का मन्तव्य है कि बुद्धिन्द्रिय से वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान आलोचन है।<sup>245</sup>

किन्तु डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य का मत है कि निर्विकल्पक ज्ञान को अस्पष्ट मानना उचित नहीं है। अस्पष्टता का सम्बन्ध भ्रम ज्ञान से है।<sup>246</sup> अतः निर्विकल्पक ज्ञान का सम्बन्ध भ्रम ज्ञान से नहीं होता है।

आलोचनमात्रम् का तात्पर्यार्थ है आलोचनमेव। यह केवल इन्द्रिय साध्य ज्ञान है। नाम, जाति सम्बन्ध से शून्य यह आलोचन है। उदाहरण के लिए “का-का” शब्द का श्रवण

---

<sup>243</sup> सा.का. २७।

<sup>244</sup> सां.तत्त्वकौ. ज्योतिष्मतीव्याख्या सा.का. २७।

<sup>245</sup> तत्रैव, सां.तत्त्वकौ. ज्योतिष्मतीव्याख्या सा.का. २७।

<sup>246</sup> तत्रैव, सां.तत्त्वकौ. ज्योतिष्मतीव्याख्या सा.का. २७।

होता है, उस स्थिति में ही वह ज्ञान आलोचन कहा जा सकता है क्योंकि इस का-का शब्द से किसी भी पदार्थ का स्पष्ट रूप से बोध नहीं होता किन्तु जब यह बोध होगा कि यह का-का शब्द है तब उस ज्ञान को आलोचन नहीं कहा जाएगा । नाम-जाति इत्यादि से युक्त होकर जब ज्ञान “ शब्दव्यपदेश्य ” हो जाता है तब वह ज्ञान आलोचन नहीं रहता है । किन्तु नाम जाति से सम्बन्धित इस कल्पना का प्रसङ्ग सांख्य दर्शन में अप्राप्त प्रायः ही कहा जाता है । गौडपादभाष्यकार और युक्तिदीपिकाकार का मानना है कि ( कारिका २८) में कहा गया ‘मात्र’ शब्द विशेषार्थक है । मात्र शब्द विशेष अर्थ में होने से यहाँ अविशेष का खण्डन हो जाता है। यथाहि-

“मात्रशब्दो विशेषार्थोऽव्यावृत्त्यर्थः।”<sup>247</sup>

तथा,

“मात्रशब्दो विशेषनिवृत्त्यर्थः।”<sup>248</sup>

नेत्र, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ रूप, रस इत्यादि प्रत्येक असाधारण अर्थ को स्वीकार करती है । उदाहरणार्थ ‘दानमात्रं प्राप्यते और वैदिकवाक्मात्रमधीते माणवकः’ का तात्पर्य है कि मात्र दान ही प्राप्त होता है अन्य कुछ नहीं, द्वितीय वाक्य का तात्पर्य है कि मात्र वेद का ही अध्ययन करता है अन्य किसी शास्त्र का नहीं । अतः इसी तरह नेत्रेन्द्रिय रूपमात्र को, श्रोत्रेन्द्रिय शब्द मात्र को ही ग्रहण करती है ,किसी अन्य विषय को नहीं । यथाहि-

---

<sup>247</sup> गौ. भा. सा.का. २७।

<sup>248</sup> यु.दी.स.आ. सा.का. २७।

यथा भिक्षामात्रं लभ्यते 'नान्यो विशेष इति । तथा चक्षूरूपमात्रे न रसादिषु एवं शेषाण्यपि । तद्यथा चक्षुषो रूपं, जिह्वायाः रसः, घ्राणस्य गन्धः, श्रोत्रस्य शब्दः, त्वचः स्पर्शः । एवमेषां बुद्धिन्द्रियाणां वृत्तिः कथिता ।<sup>249</sup>

तथा च, तद्यथा मैक्षमात्रमस्मिन् ग्रामे लभ्यते इत्युक्ते नान्यो विशेष इति ज्ञायते । छन्दोमात्रमधीते माणवक इत्युक्ते नान्यधीत इति । एवम् 'आलोचनमात्रमिष्यते वृत्ति' रित्युक्ते नान्यो इति गम्यते ।<sup>250</sup>

आचार्य विज्ञान भिक्षु के अनुसार सविकल्पक ज्ञान भी आलोचन संज्ञक है । अतः सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों ही ऐन्द्रियिक ज्ञान है । अतः दोनों ही आलोचन संज्ञा वाले ज्ञान कहे जा सकते हैं ।<sup>251</sup>

अतः इस तरह सांख्य शास्त्र के मत में निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष की प्राथमिक अवस्था माना है । जो विषयेन्द्रिय के सन्निकर्ष तक ही बद्ध है । विषयेन्द्रिय के सन्निकर्ष से जिस वस्तु का अविविक्त रूप में या "किञ्चित् इदम्" रूप में विशेषणविशेष्य से वर्जित विषयमात्र ग्राह्य होता है, उसी ज्ञान को आलोचन कहा जाता है तथा वहीं निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है जो कि, विषयवस्तु का मात्र सामान्य रूप ही है । सांख्यशास्त्र और न्याय शास्त्र की निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप एवं प्रक्रिया में एकरूपता दृष्टिगत होती है ।

## (२.) सविकल्पक प्रत्यक्ष-

इन्द्रिय के द्वारा किसी पदार्थ या वस्तु के विषय में 'यह वस्तु' इस तरह सामान्य-विशेष भाव से विहीन अथवा अस्पष्ट ज्ञान होने पर मन से "यह वस्तु या पदार्थ ऐसा है ,

<sup>249</sup> गौ.भा. सा.का. २७।

<sup>250</sup> यु.दी.स.आ. सा.का. २७।

<sup>251</sup> परमुत्तरकालीनं च पुनर्वस्तुधर्मेन्द्रियरूपधर्मेस्तथा जात्यादिभिर्ज्ञानं सविकल्पकं तथालोचनाख्यं भवतीत्यर्थः तथा च निर्विकल्पकसविकल्पकरूपं द्विविधमप्यैन्द्रियकं ज्ञानमालोचनसंज्ञमिति लब्धम्। सां.प्र.भा.,पृ.१३०

ऐसा नहीं” इस तरह से वस्तु का संकल्प होता है। तात्पर्य यह है कि सन्निकृष्ट वस्तु का विशेषणविशेष्य रूप से अनुसंधान अथवा यथार्थ ज्ञान होता है।<sup>252</sup> तत्पश्चात् अहंकार से विषय व प्रमाता के सम्बन्ध का निर्णय होता है कि इस विषय में मैं अधिकृत हूँ, यथा मैं समर्थ हूँ। यह मेरे लिए हैं। इस तरह का अभिमान अहंकार से किया जाता है अन्त में बुद्धि विषय के ग्रहणत्व व निषेधत्व का निश्चय करती है। इसे अध्यवसाय कहा गया है इसी दशा में समावेश होकर ज्ञान सविकल्पक रूप में पूर्वतः रूपान्तरित होता है।

सांख्य एवं न्याय मत सविकल्पक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में दो तरह से भेद रखता है। प्रथम मत -नैयायिकों के मत में सविकल्पक प्रत्यक्ष मन की अवस्था में होता है जबकि सांख्य शास्त्र के अनुसार यह बुद्धि की दशा में होता है।

द्वितीय मत -न्यायमतानुसार नाम, जाति आदि की योजनायुक्त ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा गया है। जबकि सांख्यशास्त्र में सविकल्पक प्रत्यक्ष से यह निश्चय होता है कि यह विषय ग्रहणीय अथवा त्याग्य। न्याय में इसे हानोपादान बुद्धि कहा गया है। इसी दशा में विषय के स्वरूप का भी निर्णय होता है कि यह विषय ग्रहणीय है या अग्रहणीय। नैयायिक इसे हानोपादानबुद्धि के रूप में स्वीकारते हैं। इसी स्थिति में विषय के स्वरूप का निश्चय (अध्यवसाय) होता है। इसी कारण ईश्वर कृष्ण ने तथा अन्य उपन्यासकारों ने अध्यवसाय को विषय के रूप में निश्चय स्वीकारा है।

### ग.) बुद्धिवृत्ति और अध्यवसाय -

चित्तवृत्ति एवं बुद्धिवृत्ति दोनों पार्यायवाची शब्द हैं। चित्तवृत्ति से आशय है चित्त की अवस्था या चित्त का परिणाम। सांख्य में बुद्धिवृत्ति प्रमाण के रूप में उपस्थापित हुई है। चित्तवृत्ति उसे कहेंगे जिसका विषय निश्चित रूप से बोध हो रहा हो अवरूद्ध होने

---

<sup>252</sup> आलोचितमिन्द्रियेण वस्तु 'इदम्' इति सम्मुग्धम् 'इदमेव, नैवम्' इति सम्यक्कल्पयति- विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावत्। सा.तत्त्वकौ. सा.का. २७।

वाला न हो तथा पूर्व से न जाना गया हो । बुद्धिवृत्ति से उद्भूत इसका फलभूत पुरुषवर्ती बोध प्रमा है ।<sup>253</sup>

डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र ने कहा है कि राजेश्वर शास्त्री, शिवनारायण शास्त्री और श्रीकृष्णवल्लभाचार्य के मतानुसार सांख्य दर्शन में कुछ अर्था मात्र प्रमाण होते हैं । यथा – नेत्रेन्द्रिय आदि, तथा कुछ प्रमाण और प्रमा दोनों ही । यथा- चित्तवृत्ति यह सन्निकृष्ट नेत्रादि इन्द्रियों से उद्भूत होने के कारण प्रमा भी कहलाता है एवं पौरुषेय बोध का हेतु होने से प्रमाण भी है । यथा – बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य, जिसको व्यवहार में जीव कहा जाता है <sup>254</sup>

इस तरह यहा पौरुषेय बोध और चित्त वृत्ति मुख्या प्रमा है चित्तवृत्ति का अन्तर्भाव पौरुषेय बोध में होता है इसलिए पौरुषेय बोध मुख्य प्रमा हुई । प्रमा के दो प्रकार के होने से इसके प्रमाण भी दो प्रकार के होंगे । अर्थ सन्निकृष्ट नेत्रादि इन्द्रियां चित्तवृत्ति का प्रमुख सधक होने के कारण प्रमाण है ।<sup>255</sup>

किरणावली में भी कहा गया है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उद्भूत चित्तवृत्ति को प्रमा होने पर इन्द्रियां (विषयि ) प्रत्यक्ष प्रमाण है और इन्द्रियार्थ – सन्निकर्षजन्य चित्तवृत्ति गौण प्रमा और बोध प्रमुख प्रमा है । चित्तवृत्ति का जो परिणाम है वह पुरुषवर्ती बोध है तथा बुद्धिरूपी बोध पुरुष में उपचारित होता है वह प्रमुख प्रमा है इस तरह से बोध प्रमा होने पर चित्तवृत्ति प्रमाण है ।<sup>256</sup>

---

<sup>253</sup> तच्च असन्दिग्धविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः।बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा । सा.त.कौ.,सां.का. ५ ।

<sup>254</sup> तत्रैव, सा.तत्त्वकौ. सा.का,५ ।

<sup>255</sup> तस्याः चित्तवृत्तेर्यत्साधनं सन्निकर्षरूपव्यापारवशञ्चक्षुरादि यच्च पौरुषेयबोधकारणं चित्तवृत्तिरूपं तदुभयमपि प्रमाणपि प्रमाणमित्यर्थः। विद्वतो. सां.का.२७ ।

<sup>256</sup> इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यायाः एतादृशचित्तवृत्तेः प्रमात्वे इन्द्रियाणि प्रत्यक्षं प्रमाणमिति बोध्यम्। एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यां चित्तवृत्त्यत्मकाम् अमुख्यां प्रमामभिधाय मुख्यप्रमामाह-बोधश्चेत्यादि। चित्तवृत्तेः फलं यः पौरुषेयः पुरुषवर्ती बोधः। बुद्धिधर्मोऽपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन पुरुषे

राजेश्वर कृत टिप्पणी एवं सारबोधिनी में भी दो प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है इस प्रकार डॉ. अद्याप्रसाद मिश्र ने साङ्ख्य तत्त्वकौमुदी प्रभा में कहा है।<sup>257</sup> किन्तु इन टीकाकारों का मत उचित नहीं प्रतीत होता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने चित्तवृत्ति रूप एक ही प्रमाण एवं पौरुषेयबोध रूप प्रमा को एक रूप ग्रहण किया है। आचार्य मिश्र के अनुसार ग्राह्य इन्द्रियों विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर बुद्धिस्थ तमोगुण के परिभव होने के साथ की अतिशयता हो जोन से विषय का द्योतन होता है। उसे ही अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहते हैं यही वृत्ति अथवा ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। इसी विषयाकार रूप में परिणत प्रमाणभूत बुद्धितत्त्व के द्वारा स्वप्रतिबिम्बित चेतनपुरुष में होने वाला स्वग्रहीत विषयों का समर्पण रूप अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल प्रत्यक्ष प्रमा या ज्ञान कहा जाता है।<sup>258</sup>

इस तरह सांख्यशास्त्रानुसार चित्तवृत्ति ज्ञान का रूप है एवं यही प्रमाण हैं तथा विषयाकार परिणाम का हेतु होने के कारण केवल केवल बुद्धि का धर्म है इन्द्रिय का नहीं। न्यायशास्त्र के सादृश्य ही सांख्यशास्त्र के मत में इन्द्रिय एवं इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है। यहाँ न्याय का संयोग आदि सन्निकर्ष नहीं है सन्निकर्ष का तात्पर्य है सहायतामात्र। यह सहायता ठीक उसी प्रकार है जिस तरह विभिन्न छिद्रों से युक्त घड़े में रखा हुआ दीपक के प्रकाश को बाहर निकलकर रखे हुए पदार्थों को प्रकाशित करने छिद्रों की सहायकता प्राप्त होती है।<sup>259</sup>

---

उपचर्यमाणः सा मुख्या प्रमेत्यर्थः। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणमिति बोध्यम्।  
(किरणावली) सा.तत्त्वकौ.प्रभा. पृ.९८

<sup>257</sup> तत्रैव. पृ.९८

<sup>258</sup> भा.द.प्र. पृ.१४९

<sup>259</sup> न च एतादृशेन्द्रियेण अध्यवसाय इत्यर्थक प्रतिविषयेणाऽध्यवसाय इति तृतीयासमसः कुतो नाश्रित इति वाच्यम्, एतन्मते नानाछिद्रघतान्तरवर्तिप्रदीपप्रकाशस्य छिद्रजन्यत्वा भावात् बुद्धिवृत्तिरूपाध्यवसायस्य इन्द्रियजन्यत्वाभावेनैतादृशसम्प्रसासम्भवात्। (सुषमा) सा.तत्त्वकौ.प्रभा, पृ.१०५

---

बलराम ने प्रत्यक्ष में इन्द्रियो की गौणता का वर्णन करते हुए कहा है कि जिस तरह प्रकृतिक रूप से चलायमान जल जलाशयस्थित निर्गम पथ के अभाव में खेत में न जाने वाला जल छिद्र होने पर नहर के द्वारा खेत में पहुँच कर क्यारी के आकार वाला हो जाता है उसी भाँति समस्त विषयों को ग्रहण करने में समर्थ सत्वगुण को तमोगुण के द्वारा विहस्त कर दिए जाने पर विषय के प्रति नहीं जाने वाले बुद्धितत्व इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के द्वारा तमोगुण को निराकृत कर दिए जाने पर इन्द्रिय पद्धति से विषय के समीप जाकर तदाकाकर हो जाता है। बुद्धितत्व का यह जो विषयाकार परिणाम है यही अध्यवसाय है एवं इसे ही वृत्ति, ज्ञान अथवा प्रमाण कहा जाता है।<sup>260</sup>

महर्षि व्यास ने भी चित्तवृत्ति को प्रमाण मानकर कहा है कि इन्द्रिय पद्धति से चित्त के बाह्य वस्तु से उपरंजित होने से सामान्य और विशेषात्मक अर्थ की असामान्य अवधारण प्रधाना वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। एवं असाधारण चित्तवृत्ति का पुरुषगत बोध प्रत्यक्ष ( दृष्ट ) प्रमाण का फल है सामान्य अवधारणा प्रधाना वृत्ति अनुमान होती है। तथा आप्त पुरुष के माध्यम से प्रत्यक्ष किया गया अथवा अनुमान किया गया अर्थ अन्यत्त शब्द के माध्यम के प्रस्तुत किया जाता है। शब्द के द्वारा वह अर्थ विषयक वृत्ति श्रोता का आगम प्रमाण है।<sup>261</sup>

विज्ञानं भिक्षु ने भी पूर्व में द्विविध प्रमा और द्विविध प्रमाण को उल्लेखित करते लिखा है यदि पुरुषगत प्रमा को फल मानेंगे तो बुद्धिवृत्ति प्रमाण कहलायेगी। यदि बुद्धिनिष्ठ वृत्ति को प्रमाण माना जाएगा तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि की प्रमा होगा। यदि बुद्धिवृत्ति एवं पौरुषेय बोध इन दोनों को प्रमा कहा जाए तब प्रमाभेद के कारण दोनों ही

---

<sup>260</sup> विद्वतो. पृ. ८४.

<sup>261</sup> व्या.भा.पृ. २८

प्रमाण होंगे । नेत्रादि में प्रमाण व्यवहार तो परम्परागत ही है।<sup>262</sup> किन्तु बाद में महर्षि व्यास जी का मत को ही उन्होंने सांख्य दर्शन का सिद्धान्त स्वीकार किया है।<sup>263</sup>

घ.) प्रत्यक्ष बाधक हेतु -

साङ्ख्यकारिका में प्रत्यक्ष को बाधित करने में निम्नाङ्कित हेतु प्रतिपदित किये गये हैं -

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातात्मनोऽनवस्थानात्।

सौक्ष्माद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥<sup>264</sup>

आचार्य माठर पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि जो वस्तु या पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं दिखाई दे, उस वस्तु को न मानना ही उचित है। यथा दूसरा सिर, तीसरी भुजा, शशशृङ्ग आदि। इसी तरह प्रधान और पुरुष प्रत्यक्षतया अनुपलब्ध है। अतः उसका भी अस्तित्व मानना उचित नहीं है। इस शङ्का का समाधान कारिका में प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होने में आठ बाधक हेतु हैं - अधिक दूरी होना, अधिक समीपता होना, इन्द्रिय का खराब होना, मन का अव्यवस्थित होना, अधिक सूक्ष्म होना, व्यवधान होना, अभिभूत होना, सादृश्यता होना इत्यादि। यथाहि -

“ ननु प्रत्यक्षेण योऽर्थो नोपलभ्यते स सर्वथा नास्तीति मतं सङ्गच्छते । यथा द्वितीयमनीश्वरशिरः, तृतीयो बाहुः , शशविषाणादयो वा । एवं प्रधानपुरुषो नोपलभ्येते तस्मात्तावपि न स्त इत्याशङ्कानिरासायाऽह् ।”<sup>265</sup>

आचार्य गौडपाद का भी माठराचार्य की भाँती इसी प्रकार पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हैं। यथाहि -

---

<sup>262</sup> सा. प्र. भा. पृ. ६५

<sup>263</sup> तत्रैव, पृ. ६५

<sup>264</sup> सां.का.७।

<sup>265</sup> मा.वृ. सां.का.७।

“ अत्र कश्चिदाह- प्रधानं पुरुषो वा नोपलभ्यते, यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति, तस्मात्तावपि न स्तः । यथा द्वितीयं शिरः, तृतीयो बाहुरिति । तदुच्यते – अत्र सत्तामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति ।” 266

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद पूर्वपक्ष को उद्धृत करते हैं कि जो व्यक्त , अव्यक्त , और ज्ञ इन् अत्त्वों में से “व्यक्त तत्त्व” की प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से सिद्धि है । “अव्यक्त” अर्थात् प्रधान और ज्ञ अर्थात् पुरुष है सदैव अनुपलब्ध होने से यह कैसे सिद्ध होगा कि उनकी सत्ता है ? इसका समाधान करते हुये कहते हैं कि चार दोष प्रत्यक्ष-बाधक है । वे हैं - देश दोष , इन्द्रिय दोष , विषय दोष , और अर्थान्तर दोष । इन्हीं चार दोषों के अवान्तर भेद “ अतिदूरात्.....” कारिका ७ में कहे गये हैं । यथाहि -

“ननु च 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्', व्यक्तं तावत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां सिद्धम्, प्रधानपुरुषयोस्तु सर्वदाऽनुपलम्भात् कथं सिद्धिर्न तयोरिति नानुपलब्धिमात्रेणासत्त्वम् । यतश्चतुर्भिः प्रकारैः सतामपि पदार्थानामनुपलब्धिर्भवति । देशदोषादिन्द्रियदोषाद्विषयदोषादर्थान्तरदोषाच्च । तानेव भेदेन दर्शयन्नाह- अतिदूरादित्यादि । 267

आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि ऐषा भी हो सकता है कि जिस प्रकार गगन पुष्प , कछुए के रोम और खरगोश के सींग इत्यादि के विषय में प्रवृत्त नहीं होने से प्रत्यक्षाभाव सूचित करता हैं । इसी प्रकार प्रकृति इत्यादि के विषय प्रवृत्त नहीं होने के कारण उनका भी अभाव ज्ञापित होता है । तब उनकी सिद्धि सामान्यतोदृष्ट आदि से कैसे कही जा सकती है । यथाहि -

---

266 गौ.भा. सां.का.७।

267 ज.म. सां.का.७।

“स्यादेतत्; यथा गगनकुसुमकूर्मरोगशशविषाणादिषु प्रत्यक्षमप्रवर्तमानं तदभावमवगमयति, एवं प्रधानादिष्वपि । तत्कथं तेषां सामान्यतोदृष्टादिभ्यः सिद्धिरित्यत आह – अतिदूरादिति ।”<sup>268</sup>

माठराचार्य कहते हैं कि इस लोक विद्यमान पदार्थों की भी अनुपलब्धि आठ प्रकार से होती है। यथाहि -

“इह लोके सप्तामप्यर्थानामष्टधा नोपलब्धिः ।”<sup>269</sup>

प्रसङ्गानुसक्त पूर्वोक्त आठ हेतुओं का विस्तृत विवेचन द्रष्टव्य है ।

(१.) अतिदूरात्- माठराचार्य उदाहरण दर्शाते हुए कहते हैं कि जैसे विदेश में उपस्थित देवदत्त से विष्णुमित्र यज्ञदत्त आदि की अत्यधिक दूरी होने कारण उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। तो क्या वे नहीं है तो क्या वे नहीं है ? तात्पर्य यह है कि अत्यन्त दूर होना प्रत्यक्ष प्रमाण का बाधक है । यथाहि - “तथा हि दर्शयति यथा सतामपि देवदत्तविष्णुमित्रयज्ञदत्तानां देशान्तरगतानामतिदूरोपलब्धिः । तत् किं ते न सन्ति ?”<sup>270</sup>

आचार्य गौडपाद कहते हैं कि अत्यन्त दूर रहने कारण वस्तुओं की सत्ता होने पर भी सत्ता की अनुपलब्धिता देखी जाती हैं । यथा - अत्यन्त दूर किसी दूसरे देश में स्थित चैत्र, मैत्र, विष्णुमित्र आदि का दृष्टा से अत्यन्त दूर होने के कारण प्रत्यक्ष में बाधक होते हैं । यथाहि - “तद्यथा-इह

सत्तामप्यर्थानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा । यथा - देशान्तरस्थानां चैत्रमित्रविष्णुमित्राणाम्।”<sup>271</sup>

<sup>268</sup> सांत . त्वकौ. का . ७ ।

<sup>269</sup> मा. वृ. सां. का. ७।

<sup>270</sup> तत्रैव, मा. वृ. सां. का. ७।

<sup>271</sup> गौ. भा. सां. का. ७।

जयमंगलाकार कहते हैं कि जैसे ऊर्ध्वगमन शील पक्षि अत्यधिक दूर होने के कारण अनुपलब्ध हैं। यथाहि – “यथा दूरमुत्पतितस्य पक्षिणो नोपलब्धिः।”<sup>272</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि अग्रिम कारिका में वर्णित अनुपलब्धि पद का सिंहावलोकन न्याय से यहाँ भी अन्वय होना चाहिए। यथाहि - “आह- अतिदूरादिति। अनुपलब्धिरिति वक्ष्यमाणं सिंहावलोकनन्यायेनानुषङ्गनीयम्। यथा- उत्पतन् वियति पतत्री अतिदूरतया सन्नपि प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते।”<sup>273</sup> युक्तिदीपिकाकार का भी यही मत है। यथाहि – “तत्रातिदूरात् तावत् – तद्यथा प्रोङ्गीनस्य शकुनेः।”<sup>274</sup>

- (२.) सामीप्याद् - आचार्य माठर कहते हैं कि जिस तरह अत्यधिक दूर होने से विद्यमान देवदत्त का प्रत्यक्ष नहीं होता है उसी भाँति नेत्र के अत्यधिक सम्मीप में स्थित काजल का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। तो क्या वह भी नहीं है यथाहि - “यथा वा चक्षुरतिसामीप्यात् कज्जलं नोपलभ्यते। तत्किमिदं नास्ति ?”<sup>275</sup> आचार्य गौडपाद भी यही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यथाहि- “सामीप्याद्यथा-चक्षुषोऽञ्जनानुपलब्धिः।”<sup>276</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि अति शब्द का प्रयोग यहाँ भी होना चाहिये। अत्यन्त समीप होना। यथा – चक्षु में स्थित अञ्जन अत्यन्त सामीप्य होने से दिखलाई नहीं पड़ता है। यहाँ पर आचार्य शङ्कर ने दोनों ( अतिदूर-अतिसमीप) को देश दोष के अन्तर्गत माना है। यथाहि – “सामीप्यादिति.....उभयत्रापि

<sup>272</sup> ज.मं. सां.का. ७।

<sup>273</sup> सां.तत्त्वकौ. सां.का. ७।

<sup>274</sup> यु.दी., द्वि.आ., सां.का. ७।

<sup>275</sup> मा.वृ. सां.का. ७।

<sup>276</sup> गौ.भा. सां.का. ७।

देशदोषकृतानुपलब्धिः”<sup>277</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र भी जयमंगलाकार का अनुशरण करते हैं । यथाहि- “सामीप्यादित्यत्राप्यतिरनुवर्तनीयः, यथा लोचनस्थमञ्जनमतिसामीप्यान्न दृश्यते।<sup>278</sup> युक्तिदीपिकाकार भी यही उदाहारण प्रस्तुत करते हैं । यथाहि- “अतिसामीप्यादञ्जनप्रभृतीनाम् ।”<sup>279</sup>

(३.) इन्द्रियघातात् - आचार्य माठर उदाहारण प्रस्तुत करते हैं कि जैसे बधिर को शब्द तथा अन्धे को रूप नहीं दिखलायी पड़ता है । तो क्या शब्द और रूप नहीं हैं? यथाहि - “यथा-बधिरान्धौ शब्दरूपे नोपलभेते । तत्किं ते न स्तः ?”<sup>280</sup> आचार्य गौडपाद ने भी इस सन्दर्भ में आचार्य माठर का ही अनुशरण किया है । यथाहि- “इन्द्रियाभिघातद्यथा- बधिरान्धयोः शब्दानुपलब्धिः ।”<sup>281</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय के दोष से योग्य देश में स्थित शब्दादि अनुपलब्ध होता है । यथाहि- “श्रोत्रादीनां बुद्धिन्द्रियाणां दोषाद् योग्यदेशावस्थिता-नामपि शब्दादिनामुपलब्धिः ।”<sup>282</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र भी यही कहते हैं कि इन्द्रियों का घात होना अर्थात् इन्द्रिय की स्व स्व कार्य शक्ति का नाश जैसे अन्धा या बहिरा होना । यथाहि - “इन्द्रियघातोऽन्धत्ववधिरत्वादिः ।”<sup>283</sup> युक्तिदीपिकाकार भी यही कहते हैं । यथाहि - “इन्द्रियघाताच्छब्दादीनाम् ।”<sup>284</sup>

---

277 ज.म. सां.का. ७।

278 सां.तत्त्वकौ. सां.का. ७ ।

279 यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ७ ।

280 मा.वृ., सां.का ७ ।

281 गौ.भा. सां.का. ७ ।

282 ज.मं. सां.का. ७ ।

283 सा.तत्त्वकौ., सां.का. ७ ।

284 यु.दी.,द्वि.आ., सां.का. ७ ।

(४.) मनोऽन्वस्थानात्- आचार्य माठर उदाहरण देते हुये कहते हैं कि अनवस्थित चित्त वाला जाते हुये नृप आदि को भी नहीं देख पाता है । तो क्या नृप नहीं गया ? यथाहि - “अनवस्थितचित्तौ राजानमपि यान्तं न पश्यति । तत्किमसौ न गतः ? ”<sup>285</sup> आचार्य गौडपाद ने कहते हैं कि मन के स्थिर न रहने से, यथा - व्यग्रचित्त वाला व्यक्ति अच्छी तरह से कहे गये कथन को भी नहीं ग्रहण कर पाता हैं । यथाहि - “मनोऽनवस्थानाद्यथा-व्यग्रचित्तः सम्यक्कथितमपि नावधारयति ।”<sup>286</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि मानोऽवस्थान से तात्पर्य है असामाहितत्व, विषयान्तर प्रवृत्ति होने से । अनुपहतेन्द्रिय भी सन्निहित होने पर विषय उपलब्ध नहीं होता हैं । यहाँ पर आचार्य शङ्कर ने दोनों ( इन्द्रियघात-मनोऽनवस्था) को इन्द्रिय दोष के अन्तर्गत, अनुपलब्धि मानते हैं । तथा साथ ही कहते हैं कि मन भी इन्द्रिय का एक प्रकार होने से , उपादान को मन का प्रधान अर्थ माना है । यथाहि - “मनसोऽनवस्थानम् असमाहितता, विषयान्तरप्रवृत्तत्वात् । ततश्चानुपहतेन्द्रियेऽपि सन्निहितं विषयं नोपलभ्यते । उभयत्रापीन्द्रियदोषादनुपलब्धिः । मनसोऽपीन्द्रियत्वाद् भेदेनोपादानं तु मनसः प्राधान्यार्थम् ।”<sup>287</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि मन की अस्थिरता या विक्षिप्तता के कारण भी अनुपलब्धि होती है । यथाहि- “मनोऽवस्थानात् यथा- कामाद्युपहतमनाः स्फीतालोकमध्यवर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमर्थं न पश्यति ।”<sup>288</sup> युक्तिदीपिकाकार

<sup>285</sup> मा.वृ. सां.का. ७ ।

<sup>286</sup> गौ.भा.सां.का. ७ ।

<sup>287</sup> ज.म.,सां.का. ७।

<sup>288</sup> सां.तत्त्वकौ. सां.का. ७ ।

कहते हैं कि मन की अवधानता के कारण रास्ते में जाते हुए शकटादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। यथाहि – “मनोऽनवस्थानाच्छकटादीनाम्।”<sup>289</sup>

(५.) सौक्ष्म्यात् - आचार्य माठर कहते हैं कि धूम, जल, अग्नि आदि तत्त्वों के परमाणु नहीं होते हैं तो क्या उनका अभाव है ? यथाहि - “धूमोष्पत्रुतिनीहारपरमाणवो नोपलभ्यन्ते । तत्किममीषामभावः ?”<sup>290</sup> आचार्य गौडपाद भी सौक्ष्म्याद् के विषय में यही मत उद्धृत करते हैं। यथाहि - “सौक्ष्म्याद्यथा - धूमोष्मजलनीहारपरमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते ।”<sup>291</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद विषय दोष के अन्तर्गत सौक्ष्म्याद् को मानते हैं। सौक्ष्म्याद् को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि विषय ही परमाणु है तथा वह व्यग्रमन से अनुपहतेन्द्रिय से भी उपलब्ध नहीं होता हैं। यथाहि - “सौक्ष्म्यादिति । विषयदोषात् । विषय एव परमाण्वाद्विस्तथा, येनाव्यग्रमनसाऽप्यनुपहतेन्द्रियेण नोपलभ्यते ।”<sup>292</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि सूक्ष्मता के कारण, यथा - स्थिरचित्त वाला पुरुष भी इन्द्रिय सम्बद्ध परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है। यथाहि - “सौक्ष्म्यात् - यथेन्द्रियसन्निकृष्टं परमाण्वादि प्रणिहितमना अपि न पश्यति ।”<sup>293</sup>

(६.) व्यवधानाद् - आचार्य माठर कहते हैं कि दीवाल इत्यादि से छिपी हुई वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती हैं। तो क्या वह वस्तु है नहीं ? यथाहि- “कुड्येन व्यवहितं

---

<sup>289</sup> यु.दी., द्वि.आ.सां.का. ७।

<sup>290</sup> मा.वृ., सां.का. ७।

<sup>291</sup> गौ.भा., सां.का. ७।

<sup>292</sup> ज.मं., सां.का. ७।

<sup>293</sup> सां.तत्त्वकौ. सां.का. ७।

नोपलभ्यते । तत्किं नास्ति ? ”<sup>294</sup> आचार्य गौडपाद का भी व्यवधान के विषय में यही मत हैं । यथाहि - “व्यवधानाद्यथा - कुड्येन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते ।”<sup>295</sup> आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि कि पर्दे आदि छिपी हुए स्थूल घटादि भी अनुपलब्ध होते हैं । यथाहि - “व्यवधानादिति । यवनिकादिभिस्तिरोधानात् स्थूला अप्यविकृष्टा घटादयो नोपलभ्यन्ते ।”<sup>296</sup> आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि दीवार इत्यादि की आड छिपी हुई राज - महिषियाँ प्रत्यक्ष नहीं होती है । यथाहि - “व्यवधानात् - यथा कुड्यादिव्यवहितं राजदारादि न पश्यति । ”<sup>297</sup>

- (७.) अभिभवात् -आचार्य माठर अभिभवात् को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सूर्य के तेज से अभिभूत ग्रह नक्षत्रादि प्रत्यक्ष नहीं दीखते हैं । तो क्या उनके अभाव की परिकल्पना की जा सकती है ? यथाहि- “ सूर्यादितेजसाऽभिभूतानां ग्रहनक्षत्रतारकादीनामनुपलम्भात् तेषां किमभावः शक्यते परिकल्पयितुम् ?”<sup>298</sup> आचार्य गौडपाद का भी अभिभावात् के विषय में यही मत हैं । यथाहि - “ अभिभवाद्यथासूर्यतेजसाभिभूता ग्रहनक्षत्रतारकादयो नोपलभ्यन्ते ।” आचार्य शङ्कर भगवत्पाद का भी यही वचन प्राप्त होता है । यथाहि- “ अभिभवादिति । आदित्यप्रभाभिभूतत्वाद् दिवा तारका नोपलभ्यन्ते । ”<sup>299</sup>

---

<sup>294</sup> मा.वृ.सां.का. ७ ।

<sup>295</sup> गौ. भा. सां.का. ७ ।

<sup>296</sup> ज.मं. , सां.का. ७ ।

<sup>297</sup> सां.तत्त्वकौ. सां.का. ७

<sup>298</sup> मा.वृ.सां.का. ७ ।

<sup>299</sup> ज.मं.,सां.का.७ ।

आचार्य वाचस्पति मिश्र और युक्तिदीपिकाकार<sup>300</sup> का भी यही मत लब्ध है ।  
यथाहि- “ अभिभवात् – यथाऽहनि सौरीभिर्भाभिरभिभूतम् ग्रहनक्षत्रमण्डलं न  
पश्यति ।” <sup>301</sup>

(८.) सामानाभिहारात् – आचार्य माठर कहते हैं कि मुद्गरराशि, कुवलय, आमलक,  
मौक्तिक, कपोतादि के समूह में सादृश्य वस्तु मिल जाए तो उसका उसी के  
रूप में प्रत्यक्ष न हो तो क्या कहा जा सकता है कि वह नहीं है ? यथाहि –  
“मुद्गरराशिकुवलयामलकमौक्तिककपोतादिनुकुरम्बे क्षिप्तं समानं यदि  
नोपलभ्यते तदवेदमिति । तत्किं नास्ति ?”<sup>302</sup> आचार्य गौडपाद का मत  
आचार्य माठरवत् ही हैं । यथा कि मूँग में समूह में एक मूँग इसी प्रकार  
नीलकमल, आँवला, कपोत आदि के समूह में क्रमशः एक नीलकमल, आँवला,  
कपोत मिल जाते हैं तो वह पृथक् नहीं दिखाई देते हैं । यथाहि – “  
समानाभिहाराद्यथा-मुद्गरशौ मुद्गः क्षिप्तः, कुवलयामलमध्ये कुवलयाऽमलके  
क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते, समानद्रव्यमध्याहृतत्वात् ।”<sup>303</sup> आचार्य  
शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि एक सादृश्य राशी होने से धान्यराशी में एक  
धान्य मिल जाने पर धान्य समूह में प्रक्षिप्त नहीं दिखाई देता हैं । तथा आचार्य  
ने तीनों (व्यवधानाद्, अभिभवात्, समानाभिहारात् ) को अर्थान्तर दोष के  
अन्तर्गत उपलब्धि माना है । यथाहि – “ समानाभिहाराच्चेति । सदृशानां  
राशिकरणात् । धान्यराशौ ह्येको धन्यगुडकः प्रक्षिप्तो न दृश्यते ।

<sup>300</sup> अभिभवात् सूर्यप्रकाशाद् ग्रहादीनाम् । यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ७ ।

<sup>301</sup> सां.तत्त्वकौ., सां.का. ७ ।

<sup>302</sup> मा.वृ., सां.का. ७ ।

<sup>303</sup> गौ.भा., सां.का. ७ ।

त्रिष्वप्यर्थान्तरदोषादनुपलब्धिः । न त्वेतेऽनुपलभ्यमाना न सन्ति ।”<sup>304</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जैसे सरोवर में मेघ से गिरे जल को मिश्रित हो जाने से उसे भिन्न जल के रूप में देख नहीं जा सकता हैं। यथाहि –

“ समानाभिहारात्-यथा तोयदविमुक्तानुदकविन्दून् जलाशये न पश्यति ।”<sup>305</sup>

युक्तिदीपिकाकार एक सादृश्य वस्तुओं के मिलाप होने के कारण विभिन्न गृहमणियों की प्रभाओं का ग्रहण नहीं होता हैं। यथाहि -

समानाभिहारादनेकप्रदीपप्रभाणाम् ।<sup>306</sup>

भारतीय दर्शन परम्परा में प्रत्यक्ष पद सञ्ज्ञा और विशेषण रूप में व्यवहार किया गया हैं। ( यथा – प्रत्यक्ष ज्ञान ) ज्ञान सञ्ज्ञा पद वाला है। और “ इदं ज्ञानं प्रत्यक्षम्” इस वाक्य में ‘प्रत्यक्ष’ पद ‘इदं ज्ञानम्’ इस वाक्य के विशेषण रूप में प्रयुक्त हैं। पुनः प्रमा और प्रमाण के रूप में प्रत्यक्ष पद प्रयुक्त हुआ है। ‘इदं ज्ञानं प्रत्यक्षम्’ इस वाक्य में प्रत्यक्ष प्रमारूप में प्रयुक्त है। तथा “प्रत्यक्ष प्रमाण” यहाँ प्रयोग किया गया प्रत्यक्ष पद प्रमाण रूप प्रयुक्त है। इसके प्रतिकूल केशव मिश्र ने प्रमारूप प्रत्यक्ष के लिए साक्षात्कार पद प्रयुक्त किया है। एवं प्रत्यक्ष पद को प्रमाण के रूप प्रत्यक्ष के लिए प्रयुक्त किया गया है।

---

<sup>304</sup> ज.मं.,सां.का. ७ ।

<sup>305</sup> सां.तत्त्वकौ.सां.का. ७ ।

<sup>306</sup> यु.दी., द्वि.आ. सां.का. ७ ।

## तृतीय अध्याय

### अनुमान प्रमाण निरूपण

क.) अनुमान लक्षण निरूपण

- (१.) अनुमान का सामान्य अर्थ
- (२.) अनुमिति निरूपण
- (३.) त्र्यवयम्

ख.) त्रिविध अनुमान प्रमाण निरूपण

- (१.) पूर्ववत् अनुमान
- (२.) शेषवत् अनुमान
- (३.) सामान्यतो दृष्ट 'अनुमान'

## तृतीय अध्याय

### अनुमान प्रमाण निरूपण

---

#### क.) अनुमान लक्षण निरूपण

जिन वस्तु या पदार्थों की प्रमा का ज्ञान दृष्ट प्रमाण से नहीं हो सकता है, उसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है। यथाहि-

“योऽर्थोऽमुनादृष्टेन साधयितुं न पार्यते तत्रानुमानस्यावकाशः।”<sup>307</sup>

जयमङ्गलाकार कहते हैं जिस के द्वारा अनुमिति की जाती है वह अनुमान प्रमाण है। यथाहि- “येन अनुमीयते तदनुमानम्”<sup>308</sup> माठरवृत्तिकार आचार्य माठर के अनुसार साङ्ख्यशास्त्र अनुमान प्रमाण को त्र्यवयव ही मानता है। साथ में माठरवृत्तिकार न्याय वैशेषिक को लक्ष्य करके कहते हैं कि कुछ लोग पञ्चावयव अनुमान मानते हैं। सांख्य शास्त्र में स्वीकृत त्र्यवयवक अनुमान में प्रतिज्ञा, हेतु, और दृष्टान्त मान्य है। न्याय वैशेषिक में स्वीकृत पञ्चावयव के नाम प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनयन और निगमन है। यथाहि- “त्र्यवयवं पञ्चावयवमित्यापरे।”<sup>309</sup>

साङ्ख्यकारिकाकार अनुमान प्रमाण का लक्षण करते हैं “तल्लिङ्गलिङ्गपूर्वकम्”<sup>310</sup> अर्थात् तत् = अनुमान, लिङ्ग (चिह्न या लक्षण) लिङ्गी (जिसका लक्षण या चिह्न हो) से जिसकी अनुमिति होती है उसको ही अनुमान कहते हैं। इस संक्षिप्त लक्षण को देखकर इसके लक्षण में अस्पष्टता सी ज्ञात होती है। साङ्ख्य

---

<sup>307</sup> मा.वृ. सां.का.४।

<sup>308</sup> ज.म. सां.का.४।

<sup>309</sup> मा.वृ. सां.का.४।

<sup>310</sup> सां.का.५।

सम्मत अनुमान प्रमाण के स्वरूप विमर्श के लिये प्रस्तुत सन्दर्भ में साङ्ख्यशास्त्रीय टीका-परम्परा का आलोचना अपेक्षित है।

सभी वस्तु का कुछ न कुछ चिह्न होता है। गुण दोष आदि के रूप में कुछ न कुछ पहचान होती हैं, जिसके माध्यम से विषयी से उस वस्तु को प्रत्यक्ष किए बिना उसके लक्षणों से उस वस्तु का ज्ञान हो जाता है। यथा- अग्नि का लिङ्ग धूम है। जहाँ जहाँ धुआँ है, वहाँ वहाँ अग्नि हैं। लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्ध साहचर्य नियम से अभिव्यक्त किया जाता है। यथाहि- ‘यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः’ साहचर्यनियमो व्याप्तिः।<sup>311</sup>

क्योंकि अग्नि के अस्तित्व के बिना धूम का होना असम्भव है। यहाँ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। जो अग्नि है वह लिङ्गी है तथा धूम लिङ्ग है। लिङ्ग को व्याप्य एवं लिङ्गी को व्यापक कहते हैं। यथाहि-

“लिङ्गम् व्याप्यम् लिङ्गी व्यापकम्।”<sup>312</sup>

व्याप्त का तात्पर्य है कि व्यापक। अपेक्षाकृत यह अल्प स्थान में उपस्थित होने वाला एवं व्यापक का तात्पर्य है कि अपेक्षाकृत यह बहुत जगहों में उपलब्ध होने वाला। व्याप्य का निरूपण करते हुए कहते हैं कि संदेहयुक्त एवं दृढ इनमें से किसी प्रकार से उपहित के कारण नहीं बल्कि वस्तु स्वभाव के द्वारा जिसका साहचर्य सम्बन्ध होता है। उसको व्याप्य कहते हैं। यथाहि- “शङ्कित समारोपितोपाधिनिराकरणेन च वस्तु स्वभाव प्रति बद्धं व्याप्यम्।”<sup>313</sup>

जिसके प्रति बद्ध हो वह सम्बन्ध उसको व्यापकम् कहा जाता है। यथाहि- “येन प्रतिबद्धं तद् व्यापकम्।”<sup>314</sup>

---

311 त.स. पृ. २०६

312 सां.तत्त्वकौ.सां.का. ५।

313 तत्रैव, सां.तत्त्वकौ. सां.का. ५।

314 तत्रैव, सां.तत्त्वकौ. सां.का. ५।

“जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ वहाँ अग्नि है” इस वाक्य में हमने देखा कि इस पर्वत पर धुआँ हो रहा है। तो हमें (धुआँ) लिङ्ग अर्थात् व्याप्य से लिङ्गी अर्थात् व्यापक (अग्नि) का ज्ञान होता है। किन्तु इस दृश्य को देखने में हमारे नेत्र अशक्त है। इस स्थिति में हम कह सकते हैं। कि यह दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण का विषय नहीं हो सकता क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय का विषय तक सन्निकर्ष नहीं हो रहा है। इस कारण से अग्नि के चिह्न धूम के आधार पर अनुमान प्रमाण से लिङ्गी से पर्वत पर अनुमान कर लेते हैं। यह ज्ञान भी निश्चयात्मक (अध्यवसायात्मक) ही होता है।

विशेष बात यह है कि इस प्रमाण में लिङ्ग अर्थात् चिह्न अत्यावश्यक भूमिका निष्पादन करता है। इसलिए साख्यकारिका कार कहा है “तल्लिङ्गलिङ्गी पूर्वकम् अनुमान” यह अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाणवत् निश्चयात्मक बुद्धि स्वरूप ही होता है। क्योंकि इस अनुमान प्रमाणान्तर्गत लिङ्ग के माध्यम से लिङ्ग का ज्ञान होता है।

(१.) अनुमान का सामान्य अर्थ- (विपर्षण = परामर्श, अथवा व्याप्ति ज्ञान)।

यथाहि- “तच्च परामर्शो, व्याप्ति ज्ञानं वा।”<sup>315</sup> पर्वत अग्नि वाला है। इस अनुमिति रूप (अनुभवविशेष) यथार्थज्ञान में लिङ्गपरामर्श<sup>316</sup> “वहिनव्याप्यधूमवानयं पर्वतः” अग्नि से व्याप्य यह पर्वत धूमवाला है। इस प्रकार का ज्ञान ही कारण (साधन) है अतएव लिङ्गपरामर्श ज्ञान ही अनुमान कहा जाता है। कुछ आधुनिक विद्वान व्याप्ति के ज्ञान को ही अनुमिति के प्रति करण समझते हैं उनके विचारों से व्याप्ति का ज्ञान ही अनुमान है तथा उसमें जो लिङ्ग परामर्श है वह व्यापार है यह मत भेद कारिकावली आदि ग्रन्थों से समझा जा सकता है।<sup>317</sup>

<sup>315</sup> गौ.भा.(अभिनवराजलक्ष्मी) सां.का. ५।

<sup>316</sup> व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ।६६ अनुमानखण्ड, का. व.

<sup>317</sup> गौ.भा.(अभिनवराजलक्ष्मी) सां.का. ५।

(२.) अनुमिति निरूपण - ( प्रमा=यथार्थज्ञान, ज्ञान) लिङ्ग परामर्श, अन्य जो ज्ञान “पर्वतो वह्निमान्” इस प्रकार का ज्ञान चित्तवृत्तिविशेष (बुद्धेयवसायाख्या वृत्ति) है उसे अनुमिति प्रमा कहते हैं।<sup>318</sup> पौरुषेय बोध के प्रति विषयाकाराकारित चित्तवृत्ति ही करण है, इसलिए पौरुषेय बोध जब प्रमा (अनुमिति) होगा, तब चित्तवृत्ति को ही अनुमान कहा जाएगा।<sup>319</sup>

अनुभवविशेष रूप प्रमा ज्ञान का हेतु परामर्श ही अनुमान कहा गया है। परिणामतः व्याप्ति ( सहचार, उपाधि रहित अविच्छेद सम्बन्ध ) विशिष्ट धूम ( अग्निवाह ) आदि हेतु का पक्ष (पर्वत आदि) में ज्ञानरूप (परामर्श) ही अनुमान कहलाता है। परामर्श का आकार ‘वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः’ के रूप में है यही परामर्श अनुमान कहलाता है। कुछ व्याप्ति ज्ञान को ही अनुमान स्वीकारते हैं, व्याप्ति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि साध्यवत् से अन्य में हेतु का नहीं होना ही व्याप्ति है। वह्नि का सत्ता नहीं होने के अधिकरण में धूम की सत्ता कभी नहीं होती है। इसलिए वह्नि के व्याप्त को धूम और धूम के व्यापक को वह्नि कहते हैं। यही व्याप्त - व्यापकभाव स्वरूप व्याप्ति का ज्ञान ही अनुमिति का जनक है। अतएव व्याप्ति और परामर्शात्मक ज्ञान अर्थात् बुद्धिवृत्तिविशेष ही अनुमान है। इस वह्न्याकारा बुद्धि वृत्ति से अर्थात् चित्त की वृत्ति से जो पौरुषेय बोध होता है, उसी को अनुमित रूप प्रमा कहते हैं एवं वही मुख्य फल कहलाती है। उसका जनक तदाकाराकारित चित्तवृत्ति अर्थात् व्याप्तिज्ञान या परामर्श है, इसलिए बुद्धिवृत्ति विशेष को ही अनुमान कहते हैं यही सांख्य मत का आशय है।<sup>320</sup>

(३.) त्र्यवयवम् -

318 गौ.भा.(अभिनवराजलक्ष्मी) सां.का. ५।

319 गौ.भा.(अभिनवराजलक्ष्मी) सां.का. ५।

320 गौ.भा.(अभिनवराजलक्ष्मी) सां.का. ५।

माठर वृत्तिकार अनुमान प्रमाण का वर्णन कुछ निम्न प्रकार से करते हैं। अनुमान प्रमाण के तीन भेद होते हैं। कुछ दार्शनिक इसे न्यवयव स्वीकारते हैं कुछ (न्याय) पञ्चावयव। “पक्ष हेतु दृष्टान्ता इति न्यवयवम्”<sup>321</sup> अर्थात् इस से स्पष्ट होता है की सांख्य न्यवयव वाद स्वीकार है इसीलिए न्यवयवो को यहाँ उद्धृत किया गया है। वह तीन अवयव इस प्रकार है। (१) पक्ष (२) हेतु (३) दृष्टान्त।

(१) पक्ष- पक्ष का आशय उसे स्थान से है जहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति को सिद्ध करना चाहते हैं या “संदिग्ध साध्यवान् पक्ष”<sup>322</sup> उक्त परिभाषा के अनुक्रम जहाँ साध्य की अवस्था में सन्देह हो वह पक्ष कहलाता है। सांख्य मत में पक्ष का तात्पर्य है प्रतिज्ञा वाक्य। यथाहि-

“पक्षः प्रतिज्ञापदम्”<sup>323</sup>

यथा- “वह्निमानयं प्रदेश” = वह्निवाला यह प्रदेश है। अर्थात् साध्यवस्तु का उपन्यास जिसमें किया जाये उसे पक्ष कहते हैं। उसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष विरुद्ध आदि नौ पक्षाभास प्राप्त होते हैं।<sup>324</sup>

(२) हेतु- हेतु का तीन रूपों में होना अनिवार्य होता है। वह तीन रूप निम्न लिखित होते हैं।<sup>325</sup> (२.१) पक्ष (२.२) सपक्ष (२.३) विपक्ष।

(२.१) पक्ष - धूमवत्व का हेतु का पक्ष पर्वतादि में विद्यमान होता है।

<sup>321</sup> मा.वृ.सां.का. ५।

<sup>322</sup> त. स. पृ. २२४

<sup>323</sup> मा.वृ. सां.का. ५

<sup>324</sup> तत्रैव, यथा-वह्निमानयं प्रदेशः। साध्यवस्तूपन्यासः पक्षः। इतरे पक्षाभासाः प्रत्यक्षविरुद्धादयो नव। मा.वृ. सां.का. ५

<sup>325</sup> तत्रैव, त्रिरूपो हेतुः त्रैरूप्यं पुनः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति॥ मा.वृ. सां.का. ५

(२.२) सपक्ष - जिस साध्य के आधार पर स्थिति सुनिश्चित हो जैसे - महानस आदि में धूम और अग्नि का साहचर्य होता है ।

(२.३) विपक्ष - विपक्ष का जलहृदादि से व्यावृत्त होना प्रयोजनीय है । यह तीन हेतु यदि अपने साध्य को सिद्ध करने में असफल होते हैं तो इसी को हेत्वाभास कहते हैं अर्थात् दुष्ट हेतु बोलते हैं ।<sup>326</sup>

(३)दृष्टान्त- महानस (पाकशाला) ।

अतः माठरवृत्तिकार ने विस्तार पूर्वक आभासों की विवेचना की है । मात्र हेतु सम्बन्धित दोष ही नहीं गिनाए हैं अपितु पक्ष और दृष्टान्त से सम्बन्धित आभासों की कल्पना की गई है ।

### ख.) त्रिविध अनुमान प्रमाण निरूपण

अनुमान प्रमाण के तीन भेद करते हैं ।<sup>327</sup> पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट।<sup>328</sup> इसी प्रकार आचार्य गौडपाद<sup>329</sup>, आचार्य शङ्कर भगवत्पाद<sup>330</sup>, आचार्य वाचस्पति मिश्र<sup>331</sup>, तथा युक्तिदीपिका<sup>332</sup> आदि सामान्यतया सभी टीकाकार तीन प्रकार से अनुमान के भेद पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट के रूप में स्वीकारते करते हैं ।

---

<sup>326</sup> तत्रैव, मा.वृ., सां.का. ५

<sup>327</sup> त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। सा.का. ५ ।

<sup>328</sup> तच्च त्रिविधम्। पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।

<sup>329</sup> पूर्ववत् शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं चेति। गौ.भा. सां.का. ५ ।

<sup>330</sup> षष्टितन्त्रे व्याख्यातम्- पूर्ववत् शेषवत्, सामान्यतोदृष्टमिति। ज.म. सां.का. ५ ।

<sup>331</sup> तत् सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधम्-पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो-दृष्टञ्चेति । सा. तत्त्वकौ. सां.का. ५ ।

<sup>332</sup> अनुमानं त्रिप्रकारमाचार्यैराख्यातम्। पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टश्च। यु.दी. द्वि.आ. सां.का. ५ ।

## (१) पूर्ववत् अनुमान प्रमाण निरूपण -

पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं जहाँ हम कारण को देखकर कार्य का अनुमान करते हैं।<sup>333</sup> यहाँ पर “पूर्व” शब्द से कारण ग्रहण करते हैं अथवा “पूर्व” शब्द को कारण कहते हैं।<sup>334</sup>

जयदेव वेदालंकार “पूर्व” शब्द की व्याख्या इस प्रकार कहते हैं- “पूर्व” का अर्थ है किसी पदार्थ का सामान्यरूप जिसका व्यक्तिगत स्वरूप पहले से प्रत्यक्ष हुआ रहता है।<sup>335</sup>

माठरवृत्तिकार पूर्ववत् अनुमान को उदाहरण सहित स्पष्ट करते हुए कहते हैं “जिस जगह विशिष्ट मेद्योन्नति के द्वारा होने वाली वर्षा का अनुमान किया जाता है उसी को “पूर्ववत्” अनुमान कहते हैं।<sup>336</sup>

आचार्य माठर पूर्व शब्द से प्रत्यक्ष भी ग्रहण करते हुए कहते हैं कि पहले भी इस प्रकार दृष्ट (प्रत्यक्ष) किया गया है। इसी कारण से इसे पूर्ववत् कहते हैं अथवा नदी में बाढ़ रूपी जल प्रवाह को देखकर ऊपरी प्रान्त में वर्षा का अनुमान करना भी पूर्ववत् ही होता है।<sup>337</sup>

पूर्ववत् अनुमान को संक्षेप में पं.थाने चन्द्र उप्रेती ने इस प्रकार परिभाषित किया है – पूर्व (पहले) अनुभूत सम्बन्ध पर आश्रित अनुमान जैसे धूम के द्वारा वह्नि का

---

<sup>333</sup> तत्र पूर्ववत् यदा कारणमभ्युदितं दृष्ट्वा भविष्यत्त्वं कार्यस्य प्रतिपद्यते । यु.दी. द्वि.आ. सां.का. ५ ।

<sup>334</sup> तत्रैव, तत्र पूर्वमिति कारणमुच्यते । यु.दी. द्वि.आ. सां.का. ५ ।

<sup>335</sup> भा.द.पृ. १७१

<sup>336</sup> तत्र विशिष्ट मेद्योन्नतिदर्शनात् भवित्रीं वृष्टि सम्भावयति। मा.वृ. यु.दी. द्वि.आ. सां.का. ५ ।

<sup>337</sup> तत्रैव, पूर्वमियं दृष्टेति पूर्ववत् नदी पूर्वदर्शनादुपरिवृष्टोदेव इति वा प्रतीतिः। मा.वृ. यु.दी. द्वि.आ. सां.का. ५ ।

अनुमान यहाँ धूम तथा वह्न के निश्चित सम्बन्ध का ज्ञान हमें पूर्व (पहिले) ही पाकशाला (रसोई) आदि में हो जाता है।<sup>338</sup>

यहाँ थानेचन्द्र उप्रेती महोदय का भी यही आशय है कि पहले जो अनुभूत अर्थात् प्रत्यक्ष सम्बन्ध है उसी के आधार पर किया गया अनुमान पूर्ववत् कहा जाता है।

गौडपाद भाष्यकार पूर्ववत् का लक्षण इस प्रकार करते हैं कि “पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्।<sup>339</sup> इसका पूर्व है इसकारण इसे पूर्ववत् कहा जाता है। जैसे काली घटा वाले मेघों का अवलोकन करके वृष्टि का अनुमान किया जाता है क्योंकि (पूर्व में) इस प्रकार दृष्ट (प्रत्यक्ष) होने के कारण।<sup>340</sup>

जयमंगलाटीकाकार पूर्ववत् अनुमान का लक्षण निम्न लिखित प्रकार से करते हैं - जिससे भविष्य अर्थ का साधन किया जाए वह पूर्ववत् अनुमान कहलाता है।<sup>341</sup> पूर्ववत् का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि ‘पूर्व लिङ्गमस्यास्तीति पूर्ववत्।’<sup>342</sup> अर्थात् पहले चिह्न यह है जिसका वह है पूर्ववत्। यथा- जैसे घनघोर घटाए देखकर वर्षा होगी इस प्रकार का अनुमान करना।<sup>343</sup>

तत्त्वकौमुदीकार वीतानुमान के अन्तर्गत पूर्ववत् को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि पूर्व पद का तात्पर्य है प्रसिद्ध। प्रसिद्ध से आशय यह है कि किसी वस्तु का साधारण (सामान्य) रूप, जिसका असाधारण रूप पूर्व में प्रत्यक्ष हो चुका है। इस तरह का ‘सामान्य’ जिस अनुमान का विषय हो वह पूर्ववत् अनुमान कहलाता है। यथा- अग्निवाह के द्वारा अग्नित्व रूप सामान्य धर्म अवच्छिन्न युक्त असामान्य (विशेष) रूप अर्थात् शैलीय

---

338 मा.वृ.(भूमिका,पं.थानेचन्द्र उप्रेती ) पृ.०६

339 गौ.भा.,सां.का. ५।

340 तत्रैव,यथा मेघोन्नत्या वृष्टिं साधयति, पूर्वदृष्टत्वात्। गौ.भा. सां.का. ५।

341 तत्र भविष्यदर्श साधनाय पूर्ववदनुमानम्। ज.म., सां.का. ५।

342 ज.म., सां.का. ५।

343 तत्रैव, यथोन्नतजलधरं दृष्ट्वा वृष्टिः भविष्यतीत्यनुमीयते। ज.म., सां.का. ५।

(पर्वतीय) अग्नि का शैल (पर्वत) का अनुमान होता है । जिसका Individual form (वैयक्ति रूप) अर्थात् अग्नि विशेष पाकशाला में पहले देखा जा चुका है । यथाहि-

“वीतं द्वेधा - पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च । तत्रैकं दृष्टस्वलक्षण-सामान्यविषयं यत्, तत्पूर्ववत् । पूर्व-प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षण-सामान्यमिति-यावत्, तदस्यविषयत्वेनास्त्यनुमान-ज्ञानस्येति पूर्ववत् । यथा धूमाद्वह्नित्वसामान्यविशेषः पर्वतेऽनुमीयते, तस्य वह्नित्वसामान्यविशेषस्य स्वलक्षणं वह्नित्वविशेषो दृष्टो रसवत्याम् ।”<sup>344</sup>

डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र ने कहा है कि यहाँ पर पूर्ववत् के दृष्टान्त में आये हुए वह्निसामान्य विशेष का विग्रह दो प्रकार से करके, उसके दो अर्थ टीकाकारों के द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं । प्रथम विग्रह ‘वह्नित्वं चासौ सामान्यविशेषश्च (सामान्यं चासौ विशेषश्चेति सामान्यविशेषः) इति वह्नित्वसामान्यविशेषः’ यह विग्रह समझते हुए अर्थ करते हैं ‘नात्र वह्नित्वासामान्यस्य विशेषोऽनुमीयते इति विवक्षितं किन्तर्हि वह्नित्वरूपः सामान्य विशेषोऽनुमीयते इत्यभिप्रेतमिति गृहाण’ इस कथन का आशय है कि वह्नित्व रूप साधारण अवच्छिन्न ‘अग्नि’ व्यक्ति का अनुमान होता है यह बात नहीं है, अपितु अग्नि व्यक्ति ही अनुमान होता है जो साधारण रूप होता हुआ भी असाधारण होता है । पुनः अग्नित्व की उभयरूपता सिद्धार्थ टीकाकारों ने पदार्थ-धर्म सग्रह (वैशेषिक भाष्य) के कर्ता प्रशस्तपाद की ‘सामान्य द्विविधं परमपरं चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम् । तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात् सा चानुवृत्तिरेव हेत्वात्सामान्यमेव । द्रव्यत्वाद्यपरमल्पविषयत्वात् तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात्सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते इति’ यह प्रस्तुत करके अर्थ को प्रस्तुत कर्तए हुये ‘अत्यन्तव्यावृत्तानां तत्त्वानां यतः कारणादन्योन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते तत्सामान्यमभिधीयते, तच्च द्विविधमेकं द्रव्यादित्रिकवृत्ति सत्ताख्यं परम्, एतच्च स्वाश्रयस्यानुवृत्तेरेव हेतुत्वात्सामान्यमित्येव कीर्त्यते, अपरं च द्रव्यत्व-

पृथिवीत्वगोत्वादिरूप-मपरसामान्य, एतच्च स्वाश्रयस्य विजातीयेभ्योऽपि व्यावृत्तेरपि हेत्वा-द्विशेष इत्यपि व्यवहियते तथा च सिद्धं वह्नित्वादेः सामान्यविशेष रूपत्वमिति' यह लिखा है अनुमान का विषय अग्नित्व इत्यादि सामान्य ही होता हैं, विशेष व्यक्ति रूप 'अग्नि' नहीं – यह मत विद्वत्तोष्णीकार ने योगभाष्य की 'सामान्यवधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' इस पंक्ति के आधार पर प्रस्तुत किया है।<sup>345</sup> पंक्ति का सामान्य अर्थ है अनुमान वह वृत्ति ज्ञान है जिसमें अग्नित्व आदि साधारण का ही निश्चय होता है किरणावलीकार एवं सारबोधिनीकार ने बालराम के ही मत का अनुसरण किया हैं। किन्तु हरिराम शुक्ल इस विचार का खण्डन करते हुए अपनी सुषमा टीका में "केचित्तु 'सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्' इति योग भाष्यानुसारेण वह्नित्वस्यैवानुमेयत्वं वदन्तः वह्नित्वसामान्यविशेषः इत्यस्य वह्नित्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नो विशेष इति नार्थः, अपितु वह्नित्वरूपो यः सामान्यविशेषः इत्यर्थः, न च वह्नित्वस्य कथं सामान्यविशेषत्वमिति चेत्, तस्य जाति रूपतया सामान्यत्वं घटादिभ्यो व्यावर्तकतया विशेषत्वमपि सम्भवतीति वदन्ति। तदेतत् पर्वते वह्निमनुमिनोमि इति सर्वजनप्रतीत्या वह्नेरेव अनुमिति विधेयत्वरूपानुमेयत्वागत्या वह्नित्वस्यानुमेयत्वानङ्गीकारेण उपेक्षितम्" यह लिखा है इस खण्डन का आशय इतना ही है कि सर्व-सामान्य को 'मैं शैल में' अग्नि का अनुमान करता हूँ ऐसा ही भास होता है। मैं शैल में अग्नित्व का अनुमान करता हूँ - यह नहीं। अतः अनुमान का विषय अग्नि ही होगा अग्नित्व नहीं। सुषमाकार ने यह मत सर्व सामान्य के अनुभव के आश्रय पर स्थापित किया है। तथा योगभाष्यकार के विचार के साथ अपने विचार के विरोध का परिहाहार इन पंक्तियों से किया है। 'न च भवन्मते पूर्वोक्तसामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानमिति योगभाष्यविरोध इति वाच्यम्, सामान्यावधारणप्रधाना इत्यस्य सामान्यरूपेण वह्नित्वदिना यदधारणं वह्नेः

---

<sup>345</sup> विद्वत्तो. सां.तत्त्वकौ. सां.का. ५।

निश्चयः स एव प्रधानं फलं यस्य तथाभूतं यत्तदनुमानमनुमितिकरणमित्यर्थकत्वात्, एतच्च 'गृहीतव्याप्तिकेन हेतुना साध्यवति पक्षे ज्ञायमानेन साध्यस्य सामान्यात्मना-ऽध्यवसायोऽनुमानम्' इति योग सूत्रटीकायां नारायणतीर्थ कृतायां नारायणतीर्थ कृतायां स्पष्टम् ।' उनका आशय यह है कि सामान्यावधारणप्रधाना इस पंक्ति का सामान्य रूप से अग्नि इत्यादि का निश्चय इस प्रकार का ही अर्थ है वह्नित्व आदि सामान्य का निश्चय ही इस प्रकार का अर्थ नहीं हैं । स्वमत का समर्थन उन्हें 'साध्यस्य सामान्यात्मना अध्यवसायोऽनुमानम्' इस (नारायणतीर्थ) की पंक्ति से प्राप्त हुआ। अब अनुमान की प्रत्यक्षता से भिन्न होने का प्रश्न है । क्योंकि अनुमान दृष्ट से इसी तरह पृथक् माना जाता हैं । कि जहां दृष्ट से विशिष्ट ज्ञान होता है तो वही अनुमान से साधारण ही । इसी मत का समाधान सुषमाकार निरूपण करते हुए कहते हैं । 'तथा च प्रत्यक्षे यथा परिमाणरूपादिना घटादेः ज्ञानं भवति न तथा अनुमितौ अशेषविशेषाकारेण ज्ञानं भवतीत्येव सामान्यावधारणेत्यादेः तात्पर्यं बोध्यम्' तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष का ज्ञान उसके विषय बनने वाले घटादि का परिमाण, रूपदि के सहित होता है । किन्तु अनुमान का विषय बनने वाले शैलस्थ अग्नि आदि का मात्र अग्नि के रूप में ही ज्ञान होता है । पाकशाला में प्रत्यक्ष हुए अग्नि के समान असाधारण स्वरूपायुक्त रूप में नहीं । इस विचार से सुषमाकार के विचार की उपयुक्तता सिद्ध होती है । इसी मत को पं. वंशीधर ने सारांश के रूप में निश्चयात्मक शब्दों में स्वीकार किया है 'वह्नित्वसामान्यविशेषवह्नित्वावच्छिन्नपर्वतीयवह्निव्यक्तिविशेषः' इसी के अनुरूप 'वह्नित्व सामान्यविशेषः पर्वतेऽनुमीयते' इसका अनुभव वहाँ उद्धृत किया है वास्तव में अनुमान की विषयवस्तु साधारण (सामान्य) रूप ही होती है । असामान्य (विशिष्ट) रूप नहीं। इस विचार में एक मत होने पर भी सामान्य रूपता के सन्दर्भ में बड़ा ही मतभेद प्राप्त हुआ है ।

युक्ति दीपिकाकार पूर्ववत् पद को स्पष्ट करते हुए है कि पूर्व पद से कारण ग्रहण होता है। लोक में भी जिसका जो कारण है उसे तत्पूर्वक कहा जाता है। यथाहि- “तत्र पूर्वमिति कारणमुच्यते। यस्य हि यत् कारणं स लोके तत्पूर्वक इत्युच्यते।”<sup>346</sup> यथा- पट को तन्तुपूर्वक कहते हैं क्योंकि उसका कारण तन्तु है। इसीलिए तन्तु पूर्वक पट कहते हैं। यथाहि-

“यथा तन्तुपूर्वकः पटः देवदत्तपूर्वको यज्ञदत्त इति।”<sup>347</sup>

पूर्ववत्पद की निरुक्ति करते हुए कहते हैं कि ‘पूर्वमस्यास्तीति’ तात्पर्य यह है कि जो कोई पूर्व (कारण) हो उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं।<sup>348</sup>

कारण को अभ्युदित (प्रकट) हुआ आलोकन करके जिस भावी कार्य का अनुमान किया जाता है। वह ‘पूर्ववत्’ अनुमान कहा जाता है। यथाहि-

“तत्र पूर्ववत्- यदा कारणमभ्युदितं दृष्ट्वा भविष्यत्त्वं कार्यस्य प्रतिपद्यते।”<sup>349</sup>

यथा वारिवाह (मेघ) के उदय का आलोकन करके भावी वृष्टि के विषय में जान लेना पूर्ववत् अनुमान है। यथाहि-

तद् यथा मेघोदये भविष्यत्त्वं वृष्टेः।”<sup>350</sup>

अब यदि कोई प्रश्न करें कि उपरोक्त दृष्टान्त अनेकान्तिक दोषाग्रस्त है, क्योंकि वारिवाह ही वृष्टि का कारण बने यह निश्चित नहीं है। वृष्टि का कारण वायु इत्यादि भी हो सकती है। इस सन्दर्भ में युक्तिदीपिकाकार एक अन्य परिष्कृत परिभाषा उद्धृत की है। ‘यदि भिन्न सहकारी शक्तियुक्त ऐसी कारण शक्ति का आलोकन किया जाए जिसका उस सहकारी शक्तियों से प्रतिरोध न हो और तब उसे सम्बन्धित कार्य की अभिव्यक्ति का

<sup>346</sup> यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>347</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>348</sup> तत्रैव, पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्। यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>349</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>350</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

अनुमान हो जाए उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। यथा -लौह दण्ड इत्यादि साधन से सम्पन्न व्यापार संयुक्त कुम्भकार के द्वारा स्थापित (अधिष्ठत) मिट्टी का आलोकन करके भविष्य में निर्माण होने वाले घर का अनुमान पूर्ववत् अनुमान ही है। यथाहि-

“ आह- नैतदस्युदाहरणमनेकान्तात् । न हि मेघोदयोऽवश्यं वृष्टेः कारणं भवति वाट्वादिनिमित्तप्रतिबन्धसम्भवात् ।”<sup>351</sup>

(२) शेषवत् - आचार्य माठरकृत माठरवृत्ति एवं आचार्य गौड़पादकृत गौड़पादभाष्य में शेषवत् अनुमान का लक्षण और स्वरूप अनुपलब्ध है। आचार्य माठर शेषवत् अनुमान का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि - सिन्धु से एक बूंद वारि ग्रहण करके शेषवरि भी नमकयुक्त ही होगा इस प्रकार का अनुमान शेषवत् अनुमान कहलाता है। यथाहि - “शेषवद्यथा-समुद्रोदकबिन्दुं प्राश्य धेषस्य लवणभावोऽनुमीयते इति शेषवत् ।”<sup>352</sup>

इसी प्रकार आचार्य गौड़पाद ने भी उदाहरण दिया है कि सिन्धु से एक चुल्लू भर वारि में लवणत्व का ज्ञान कर शेष सिन्धु में भी लवणत्व की सत्ता की सिद्ध करना शेषवत् अनुमान है। यथाहि- “शेषवद्यथा- समुद्रादेकं जलपलं लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति ।”<sup>353</sup>

जयमङ्गलाकर शेषवत् अनुमान का लक्षण करते हुए कहते हैं कि शेषवत् अनुमान से अतीत काल का साधन के लिए होता है। जिसके लिङ्ग को देखकर शेष का अनुमान किया जाए उसे शेषवत् अनुमान कहते हैं। यथाहि- “अतीतार्थसाधनाय शेषवत् = शेषं लिङ्गमस्यास्तीति ।”<sup>354</sup>

<sup>351</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

<sup>352</sup> मा.वृ.सां.का. ५ ।

<sup>353</sup> गौ.भा.सां.का. ५ ।

<sup>354</sup> ज.म.सां.का. ५ ।

यथा- नदी के उपर वृष्टि हुई है यह अनुमान उसके मटमेले जल (लिङ्ग) को देखकर हो जाता है । यथाहि- “यथास्याः नद्याः उपरि वृष्टिर्भूता, यस्याः कलुषोदकं शेषं लिङ्गमिति ।”<sup>355</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अवीतानुमान के अन्तर्गत शेषवत् अनुमान को मानकर व्युत्पत्ति की है – “शिष्यते परिशिष्यते इति शेष” अर्थात् शेष उसे कहते हैं जो बचा हुआ हो ।<sup>356</sup> सम्पूर्ण परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वही अविशिष्ट (बचा हुआ) जिस अनुमान का विषय बनता है वही शेषवत् अनुमान कहलाता है । यथाहि- “स एव विषयतया यस्यास्त्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत् ।”<sup>357</sup>

इस परिभाषा से यह ज्ञान होता है कि तत्त्वकौमुदीकार ने सम्भवतः इसे ही परिशेष अनुमान भी माना है । क्योंकि इस बात की पुष्टि उनके न्यायभाष्य को प्रस्तुत करने से होती है । न्यायभाष्यकार ने शेषवत् की यही परिभाषा को मानकर इसे परिशेष अनुमान कहा है । यथाहि- “यदाहुः-‘प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषाः’ (न्यायभाष्यम्) इति । अस्य चावीतस्य व्यतिरेकिण उदहरणमग्रेऽभिधास्यते ।”<sup>358</sup>

युक्ति दीपिकाकार ने शेष का विग्रह किया है कि ‘शिष्यते इति शेष’ तथा इसी विग्रह के आधार पर शेष शब्द विकार की संज्ञा है । यथाहि- “शेष इति विकारनाम, शिष्यते इति कृत्वा ।”<sup>359</sup>

कहा भी जाता है कि अन्य से उद्भूत वस्तु अग्नि के शेष नहीं कहलाती है किन्तु अग्नि से उद्भूत ही वस्तु अग्नि का शेष कही जाती है । इस प्रकार किसी अन्य से उद्भूत

---

<sup>355</sup> तत्रैव, ज.म.सां.का. ५ ।

<sup>356</sup> सां.तत्त्वकौ.सां.का. ५ ।

<sup>357</sup> तत्रैव, सां.तत्त्वकौ.सां.का. ५ ।

<sup>358</sup> तत्रैव, सां.तत्त्वकौ.सां.का. ५ ।

<sup>359</sup> यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

अन्य का अपत्य (संतान) नहीं हो सकता है। यथाहि- “तथा चोक्तम्- नशेषोऽग्रेरन्यस्य जातमित्यस्ति, नापत्यमन्येन जातं सम्भवतीत्यर्थः।”<sup>360</sup> तथा शेषवत् की निरुक्ति करते हुये कहते हे। कि ‘शेषाऽस्यास्तीति शेषवत्’ जिसका कोई शेष (कार्य) होता है। उसे शेषवत् कहते हैं।<sup>361</sup> जब कार्य की सिद्धि का आलोकन कर हेतु (शिशु) का आलोकन कर उसके कारण भूत मातृपितृ संयोग का अनुमान हो जाता है। यथाहि- “शेषवत्- यदा कार्यनिर्वृत्तिं दृष्ट्वा कारणसद्भावं प्रतिपद्यते। तद्यथा कुमारं दृष्ट्वा द्वयसमापत्तिः।”<sup>362</sup>

पूर्वपक्ष के द्वारा इस परिभाषा के विषय में आक्षेप किया गया है कि यह अनैकान्तिक दोष से ग्रस्त क्योंकि मातृपितृ संयोग या पति-पत्नि संयोग पूर्वक हो ही कायाधारियों का उद्भव नहीं होता, द्रोण आदि मनुष्यों का उद्भव अन्यथा भी सुना गया है। यथाहि- “आह-नैतदस्त्युदाहरणम्, अनेकान्तात्। नहि द्वयसमापत्तिपूर्वक् एव प्राणभृतां प्रादुर्भावः, द्रोणादीनामन्यथोत्पत्तिविशेषश्रवणात्।”<sup>363</sup>

पूर्व पक्ष के इस आक्षेपर शेषवत् विषयक एक अन्य उदाहरण का कथन करते हे जब प्रभा से अनुरंजित आकाश का आलोकन कर चन्द्र और सूर्योदय का अनुमान किया जाता है तो वह ‘शेषवत्’ अनुमान के द्वारा होता है। यथाहि- “उच्यते-यदा तर्हि प्रभानुरञ्जितमन्तरिक्षं दृष्ट्वा चन्द्रार्कयोरुदयं प्रतिपद्यते, तदा शेषवत्।”<sup>364</sup>

पूर्वपक्ष इस उदाहरण को भी अनैकान्तिक दोष से ग्रस्त मानता है। क्योंकि अन्तरिक्ष में प्रभा का अनुराग या लालिमा सूर्य और चन्द्रोदय के निमित्त से ही नहीं होता है। बल्कि दिशाओ में अग्नि, दाह इत्यादि के कारण भी अन्तरिक्ष में प्रभा का अनुराग हो

<sup>360</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>361</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>362</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>363</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>364</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

सकता है । यथाहि- “आह- एतदपि नास्त्युदाहरणम्, अनेकान्तात् । न हि प्रभानुरागोऽन्तरिक्षे चन्द्रार्कनिमित्त एव भवति । किन्तर्हि ? दिग्दाहादिनिमित्तोऽपि ।”<sup>365</sup>

पूर्वपक्ष के आक्षेप को स्मृति में धारण कर शेषवत् अनुमान का अन्य एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि जब सरित (नदी) में वेगपूर्ण प्रवाह का आलोकन कर उसके हेतु (कारण) स्वरूपा वृष्टि का अनुमान करते हैं । तो वह भी शेषवत् अनुमान होता है । यथाहि-“उच्यते- यदा तु नदीपूरं दृष्ट्वा वृष्टिं प्रतिपद्यते, तदा शेषवत् ।”<sup>366</sup>

पूर्वपक्ष उपरोक्त इस उदाहरण को भी अनैकान्तक दोष ग्रस्त मानता है ।, क्योंकि सरित में वेग पूर्ण प्रवाह से अन्य कारण भी हो सकते हैं । यथा - हिमविलयन, पुल का ध्वस्त हो जाना, अथवा गजक्रीडा आदि। यथाहि- “आह-एतदपि नास्त्युदाहरणम्, अनेकान्तात् । नदीपूरस्य हि निमित्तमनेकविधं भवतीति हिमविलयनसेतुभङ्गगजक्रीडादि ।”<sup>367</sup> अन्त में ग्रन्थकार एक समस्त दोषमुक्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । कि जब पत्तों का आलोकन कर शालूक अर्थात् पंकज की जड़ का अनुमान हो जाता है अथवा अंकुर का आलेकन कर उसके बीज का अनुमान होता है । तब उसे शेषवत् से ही जानना चाहिए । यथाहि- “उच्यते- यदा तर्हि पूर्णं दृष्ट्वा शालूकं प्रतिपद्यते, अङ्कुरं वा दृष्ट्वा बीजमिति तदा शेषवत् ।”<sup>368</sup>

युक्तिदीपिका के उपरोक्त समस्त दृष्टान्त युक्ति संगत और दोषमुक्त है यदि इन दृष्टान्तों में कोई अनैकान्तिक दोष दर्शाए वो उसका निवारण वीत और अवीत (अन्वय व्यतिरेक) हेतुओं का सहयोग से किया जा सकता है । यथाहि-

---

<sup>365</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

<sup>366</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

<sup>367</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

<sup>368</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

“यत्तूक्तम्- अनेकान्तादिति । तत्र ब्रूमः-वीतनुवीतसामर्थ्यात् ।”<sup>369</sup>

(३) सामान्यतो दृष्टं अनुमान - आचार्य माठर सामान्यतो दृष्ट अनुमान प्रमाण को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं यथा पुष्पित आम्र का आलोकन कर अन्य जगह पर भी आम्र इसी भाँति पुष्पित होंगे इस प्रकार का अनुमान जहाँ भी किया जाए वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है । यथाहि- “सामान्यतोदृष्टम्- पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति ।”<sup>370</sup> अथवा किसी ने भाषित किया कि बाहर प्रकाश है अन्य (दूसरे) ने कहा कि चन्द्रमा का प्रादुर्भाव हो गया होगा । यथाहि- “पुनर्यथा-बहिरुद्योत इति केनाप्युक्तं, तत्रापरेणाप्युक्तम् । चन्द्र उदितो भविष्यतीत्यर्थसङ्गतिः ।”<sup>371</sup> वह अनुमान लिङ्ग लिङ्गी पूर्वक होता है आशय यह है कि लिङ्ग (हेतु या कारण) त्रिदण्डादि के दर्शन से नहीं देख गया भी लिङ्ग (साध्य) जहाँ सिद्ध किया जाए कि निश्चय ही ये परिव्राजक हैं, क्योंकि त्रिदण्ड इसके समीप है । यथाहि- “तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति लिङ्गेन त्रिदण्डादिदर्शनेनादृष्टोऽपि लिङ्गी साध्यते नूनमसौ परिव्राडस्ति यस्येदं त्रिदण्डमिति ।”<sup>372</sup> आचार्य गौडपाद भी आचार्य माठर की तरह दृष्टान्त के माध्यम से सामान्यतो दृष्ट अनुमान प्रस्तुत करते हैं यथा- एक देश में स्थित चन्द्र और तारों को दूसरे देश में देखकर यह ज्ञान कर लेना कि वह गतिमान है चैत्र सादृश्य । यथा - चैत्र संज्ञा युक्त एक जगह से अन्य जगह पर लब्ध होने पर यह ज्ञान होना कि यह चैत्र गतिमान् है । उसी सादृश्य चन्द्र और तारा भी । यथाहि- “सामान्यतोदृष्टं देशान्तरादेशान्तरं दृष्टं गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत् । यथा

<sup>369</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

<sup>370</sup> मा.वृ. सां.का. ५ ।

<sup>371</sup> तत्रैव, मा.वृ. सां.का. ५ ।

<sup>372</sup> तत्रैव, मा.वृ. सां.का. ५ ।

चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य गतिमानयम् इति  
तद्वच्चन्द्रतारकमिति ।”<sup>373</sup>

एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि किसी भी एक आम्र के वृक्ष में पुष्प देखकर अन्यत्र समस्त अम्रवृक्षों में पुष्पत्व का ज्ञान सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है । इसलिए यह सामान्यतो दृष्ट हैं । और फिर भी वह लिङ्ग लिङ्गी पूर्वक है वह अनुमान लिङ्ग पूर्वक - जिसमें लिङ्ग (हेतु) के द्वारा लिङ्गी (साध्य) का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है । यथाहि- “तथा पुष्पिताऽम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति, एतत्सामान्यतोदृष्टम् । किञ्च तल्लिङ्गलिङ्गीपूर्वकमिति । तदनुमानं लिङ्गपूर्वकं = यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा दण्डेन यतिः । लिङ्गीपूर्वकं च = यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति ।”<sup>374</sup>

आचार्य शङ्कर कहते हैं कि वर्तमान काल को साधने के लिए सामान्यतो दृष्ट अनुमान होता है । सामान्य के द्वारा लिङ्ग लिङ्गी को देखने से सामान्याते दृष्ट अनुमान प्रमाण होता है । यथाहि- “ वर्तमानार्थसाधनाय सामान्यतोदृष्टम् = सामान्येन लिङ्गलिङ्गीदृष्टत्वात् ।”<sup>375</sup> यथा- देवदत्त की गति पहले दूसरे देश में देखी गई, तथा सूर्य की गति भी सामान्य रूप से दूसरे देश में प्राप्त हुई तो यहाँ गति का सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ज्ञान हो जाता है । यथाहि-“यथा देवदत्तस्य गतिपूर्विका देशान्तरप्राप्तिर्दृष्टा, तथा सूर्यादीनां सामान्येन देशान्तरप्राप्त्या गतिरनुमीयते ।”<sup>376</sup>

कारिकांश प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि त्रिविध अनुमान कभी लिङ्ग पूर्वक होता है । कभी लिङ्गी पूर्वक होता है । यह लोक में भी देखा गया है। जैसे कभी मधुर ध्वनि

---

373 गौ.भा. सां.का. ५ ।

374 तत्रैव, गौ.भा. सां.का. ५ ।

375 ज.म. सां.का. ५ ।

376 तत्रैव, ज.म. सां.का. ५ ।

सुनकर कोयल का अनुमान हो जाता हैं। इसीप्रकार कभी कोयल को देखकर मधुर आवाज का इससे ही सम्बन्ध हो सकता हैं। यथाहि- “तल्लिङ्गलिङ्गपूर्वकमिति। त्रिविधमनुमानम्। कदाचिल्लिङ्गपूर्वकं कदाचिल्लिङ्गपूर्वकं लोके दृश्यते। तद्यथा- श्राव्येण विरुतेन कदाचित् कोकिलोऽनुमीयते, कदाचित् कोकिलं लिङ्गिनं दृष्ट्वा श्राव्येणापि विरुतेनास्य भवितव्यमिति तयोर्गम्यगमकत्वं सति सम्बन्धे।”<sup>377</sup>

आचार्य शङ्कर प्रमाण सम्बन्ध की भी व्याख्या करते हैं। कि सम्बन्ध सप्त प्रकार का है।

- (1) स्व स्वामिभाव सम्बन्ध। जैसे - राजपुरुष का सम्बन्ध,
- (2) प्रकृति विकार सम्बन्ध। जैसे - जौ और सक्तु का सम्बन्ध
- (3) कार्यकारण सम्बन्ध। जैसे - गाय, बछड़े का सम्बन्ध,
- (4) पात्रपत्रिका सम्बन्ध। जैसे - परिव्राजक और त्रिदण्ड का सम्बन्ध।
- (5) साहचर्य सम्बन्ध। जैसे - चक्रवाद पक्षियों का सम्बन्ध।
- (6) प्रतिद्वन्द्वि सम्बन्ध। जैसे - शीत और उष्ण का सम्बन्ध क्योंकि वहा एक के प्रभाव मे अन्य का अभाव रहता।
- (7) मैत्रिक सम्बन्ध। जैसे - भोजन और भोजन कर्ता का सम्बन्ध।

इन सम्बन्धों के द्वारा त्रिविध प्रमाण लुप्त नहीं होता है।

यथाहि- “सम्बन्धाश्च सप्त = तत्र स्वस्वामिभावसम्बन्धो यथा राजपुरुषयोः । कदाचित् पुरुषेण राजा, राज्ञा वा पुरुषः। एवं प्रकृतिविकारसम्बन्धो यथा यवसक्त्वोः । कार्यकारणसम्बन्धो यथा धेनुवत्सयोः। पात्रपात्रिकसम्बन्धो यथा परिवृट्त्रिविष्टब्धयोः ।

---

<sup>377</sup> तत्रैव, ज.म. सां.का. ५।

साहचर्यसम्बन्धो यथा चक्रवाकयोः। प्रतिद्वन्द्विसम्बन्धो यथा शीतोष्णयोः। तत्रैकस्य भावेऽन्याभावः प्रतीयते । निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धो यथा भोज्यभोजकयोरिति। एभिः सम्बन्धैस्त्रिविधमनुमानं प्रमाणं न लुप्यते ।”<sup>378</sup>

तत्त्वकौमुदीकार ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान को वीत का दूसरा भेद माना है । सामान्यतो दृष्ट के वीतानुमान का विषय ऐसी साधारण वस्तु होती है । जिसका स्वलक्षण अथवा असाधारण रूप पहले दृष्ट न हुआ हो। यथा - इन्द्रिय विषयक अनुमान में दृष्टिगत होता है । इसमें रूपादि के विषय बनाने वाले विज्ञानो की क्रिया होने के कारण निश्चय ही करण से उद्भूत होगा। ( क्योंकि जो क्रिया होती है वह निश्चय ही किसी साधन विशेष से उद्भूत होती है । यथा - कटाई इत्यादि की क्रिया कुठार आदि से पूर्ण होती है ।) इतना ही अनुमान होता है । यद्यपि छेदन आदि क्रिया के विषय में करणत्व साधारण का अपना असामान्य प्रकार पूर्व में प्रत्यक्ष हुए रहते हैं, तथापि रूप और रस आदि के बोध के विषय में करण का जिस भाँति अनुमान होता है, करण का उस भाँति स्वविशिष्ट रूप कभी प्रत्यक्ष नहीं होता है ।, क्योंकि वह करण इन्द्रिय जातीय है तथा इन्द्रियत्व का सामान्य का अपना असामान्य रूप अर्थात् इन्द्रिय विशेष स्थूल चक्षु वालो को कभी प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसके प्रतिकूल अग्नित्व सामान्य के स्वविशिष्ट रूप पाकशाला वाले अग्नित्व का प्रत्यक्ष होता है वीत रूप से तुल्यता होने पर भी सामान्यतोदृष्ट से पूर्ववत् की यही भिन्नता है । यथाहि-

“अपरञ्च वीतं सामान्यतोदृष्टम् अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्।  
यथेन्द्रियविषयकमनुमानम्। अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्त्वमनुमीयते।  
यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छिदानौ वास्यादि स्वलक्षणमुपलब्धम्, तथापि यज्जातीयस्य  
रूपादिविज्ञाने करणवत्त्वमनुमीयते तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण।

---

<sup>378</sup> तत्रैव, ज.म. सां.का. ५ ।

इन्द्रियजातीयं हि तत्करणम्, न चेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वागृह्यशाम्, यथा वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः। सोऽयं पूर्ववतः सामान्यतोदृष्टात् सत्यपि वीतत्वेन तुल्यत्वे विशेषः। अत्र च दृष्टं दर्शनम्, सामान्यत इति सामान्यस्य, सार्वविभक्तिकस्तसिः। अदृष्टस्वलक्षणस्य सामान्यविशेषस्य दर्शनं सामान्यतोदृष्टमनुमानमित्यर्थः।”<sup>379</sup>

युक्तिदीपिकाकार ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण की परिभाषाएं समस्त टीकाकारों से भिन्न एवं अनेक लक्षणों सहित प्रस्तुत की हैं।

**प्रथम लक्षण (सामान्यतोदृष्ट अनुमान) –**

जब किसी एक जगह पर पदार्थों को प्राप्त करके पुनः किसी अन्य स्थान पर उसी जाती वाले दो पदार्थों का एक साथ होने का अनुमान किया जाए तो उसे शेषवत् अनुमान कहते हैं। यथाहि-

“सामान्यतोदृष्टं नाम यत्रैकदाऽर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्य देशान्तरे कालान्तरे च तज्जातीययोरव्यभिचारं प्रतिपद्यते।”<sup>380</sup>

यथा - कहीं अग्निवाह और अग्नि के साहचर्य का अलोकन कर किसी अन्य स्थान पर दूसरे अग्निवाह से दूसरी अग्नि का अनुमान किया जाता है। यथाहि-

“तद्यथा क्वचिद्धूमाग्निसम्बन्धं दृष्ट्वा क्वचिद्धूमान्तरेणाग्न्यन्तरस्यास्तित्वं प्रतिपद्यते।”<sup>381</sup>

पूर्वपक्ष द्वारा उपर्युक्त लक्षण को दोषग्रस्त बताया गया है। कि इस परिभाषा में अनुमान सामान्य के लक्षण में कोई भिन्नता नहीं है क्योंकि अनुमान में सभी जगह दो ही पदार्थों की

---

<sup>379</sup> सां.तत्त्वकौ.सां.का. ५।

<sup>380</sup> यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>381</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

सहचरता से अन्यत्र तज्जतीय दो वस्तुओं के साहचर्य का अनुमान किया जाता हैं। यथा किसी स्थान पर सामग्री से सम्मिलित मृत्पिण्ड से घड़े की सिद्धि को देखने पर अन्यत्र उसी सादृश्य अन्य मृत्पिण्ड को देखकर घटान्तर का अनुभव अथवा किसी स्थान पर वेगपूर्ण सरित प्रवाह से वृष्टि की पुष्टि करके, दूसरे स्थान पर भी सरित प्रवाह से वृष्टि का अनुमाना। यथाहि-

“आह- नैतदस्त्युदाहरणम् । अविशेषप्रसङ्गात् । सर्वत्रैवह्यनुमाने क्वचिदर्थयोरव्यभिचारमुपलभ्यान्यत्र तज्जातीययोरर्थयोरव्यभिचारं प्रतिपद्यते । क्वचित् साधनवतो मृत्पिण्डाद् घटनिष्पत्तिमुपलभ्यान्यत्र साधनवतः पिण्डान्तराद् घटान्तरनिष्पत्तिं प्रतिपद्यते, तथैकत्र नदीपूराद् वृष्टिमुपलभ्यान्यत्र नदीपूरान्तराद् वृष्ट्यन्तरमवसीयते । तथा च सति त्रयाणामविशेषप्रसंगः ।”<sup>382</sup>

द्वितीय लक्षण (सामान्यतोदृष्ट अनुमान) – सामान्यतोदृष्ट अनुमान का प्रथम लक्षण दोषग्रस्त माने जाने पर ग्रन्थकार एक अन्य परिभाषा प्रस्तुत करते हैं सहभुव पदार्थों में से किसी एक में कोई असामान्य गुण का आलोकन कर शेष वस्तुओं में भी उस विशेष गुण का अनुमान किया जाए तो वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। यथाहि- “उच्यते- यदा तर्हि सहभुवामेकस्य विशिष्टगुणमुपलभ्य शेषाणामपि तद्वत्त्वमनुमीयते तदा सामान्यतोदृष्टम् ।”<sup>383</sup> यथा - पादप के एक पके हुए फल को पाकर दूसरे फलों के पकने का अनुमान। यथाहि-“तद्यथा वृक्षादेकस्य फलस्य पाकमुपलभ्य शेषाणां वृक्षान्तराणां च पाकोऽनुमीयते ।”<sup>384</sup>

पूर्वपक्ष द्वारा इस उदाहरण को भी अनैककान्तिक दोष युक्त बताया गया है। पूर्वपक्ष का कहना है कि समस्त फलों के पकने का समय ही एक नहीं है फलों का पकना

<sup>382</sup> यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

<sup>383</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

<sup>384</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

पूर्व और अपर काल में सम्पन्न होता है। तथा पकने के कारण मे भी भिन्नता हो सकती है। यथाहि- “आह- एतदपि नास्त्युदाहरणम् अनेकान्तात्। न हि सर्वेषां फ़लानां तुल्यकालं पाको भवति, पूर्वापरकालनिष्पन्नत्वात्, निमित्तभेदाच्च।”<sup>385</sup>

तब ग्रन्थकार एक अन्य नवीन उदाहरण उद्धृत करते हैं यथा - सिन्धु से एक जल बिन्दू पीकर शेष जल की लवणता का अनुमान होता है, अथवा हाडी मे से एक हुआ चावल का अनुमान देखकर शेष चावल के पकने का अनुमान हो जाता है। यथाहि- “उच्यते- यदा तर्हि समुद्रादेकमुदबिन्दुं प्राश्य शेषस्य लवणताऽनुमीयते, स्थाल्यां वैकं पुलाकमुपलभ्य शेषाणां पाकोऽनुमीयते, तदा सामान्यतोदृष्टम्।”<sup>386</sup>

किन्तु पूर्वपक्ष को यह उदाहरण भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि ये सामान्यतो दृष्ट के सम्पूर्ण क्षेत्र का संकलन नहीं करता। यथाहि- “आह-नैतदस्त्युदाहरणम्, अकृत्स्नसङ्ग्रहात्।”<sup>387</sup>

तृतीय लक्षण (सामान्यतोदृष्ट अनुमान) – उपर्युक्त परिभाष में सामान्यतो दृष्ट के सम्पूर्ण क्षेत्र का संकलन नहीं होता यह हेतु पूर्वपक्ष द्वारा हेतु दिया गया है कि - सामान्यतो दृष्ट अनुमान के अन्तर्गत अतीन्द्रिय वस्तुओं (जैसे पुरुषादि) का ज्ञान भी होना चाहिए। स्वयं सांख्यकारिकाकार ने भी संकेत दिया है। यथाहि- “वक्ष्यत्ययमाचार्यः- ‘सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्’ इति (का.६)।”<sup>388</sup> किन्तु उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं में पुरुषादि अतीन्द्रिय वस्तुओं का अनुमान समाविष्ट नहीं होता है। इसलिए सामान्यतोदृष्ट की उपर्युक्त परिभाषाएं स्वयं मे अपूर्ण हैं।

<sup>385</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>386</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>387</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>388</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

पूर्वपक्ष के आक्षेप के समाधान में युक्ति दीपिकाकार एक अन्य परिभाषा प्रस्तुत करते हैं 'जब किसी पदार्थ में एक के साथ अन्य धर्म की अव्यभिचार रूप से प्राप्ति होने पर किसी विशिष्ट जातीय पदार्थ में उसमें से एक धर्मत्व की प्राप्ति से, अत्यन्त अप्राप्य अन्य धर्म की अनुमिति होती है तो वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है। यथाहि- "उच्यते- यदा तर्हि किञ्चद्धर्मेण धर्मान्तरस्य व्यभिचारमुपलभ्यैकधर्मोपलम्भाद् भिन्नजातीयेऽत्यन्तानुपलब्धस्य धर्मान्तरस्य प्रतिपत्तिस्तदा सामान्यतोदृष्टम्।"<sup>389</sup>

यथा - (१) देवदत्त में गमनक्रिया का देशान्तर प्राप्ति को देखकर अदृष्ट नक्षत्रादि की भी देशान्तर प्राप्ति होने से उन नक्षत्रादि में गमन क्रिया सम्बन्धित अनुमान करना। यथाहि- "तद्यथा-देवदत्ते गमनाद्देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यात्यन्तादृष्टज्योतिषां देशान्तरप्राप्तेर्गमनमनुमीयते।"<sup>390</sup> (२) घर में अनित्यत्व एवं कृतकत्व इन दो धर्मों के साहचर्य का आलोकन कर अन्य जातीय शब्दादि में कृतकत्व को देखकर अनित्यत्व का अनुमान करना। यथाहि- "यथा हि कृतकत्वानित्यत्वयोर्घटे सद्भावमुपलभ्यान्यत्र शब्दादौ कृतकत्वदर्शनादनित्यत्वमनुमीयते।"<sup>391</sup> (३) प्रसादादि में वृद्धि पूर्वक दीर्घत्व का आलोकन कर भिन्न जातीय, औषधि, वनस्पति, इत्यादि में दीर्घत्व के दर्शन से बुद्धिधर्म का अनुमान। यथाहि- "तथा प्रासादादीनां वृद्धिपूर्वकं दीर्घत्वमुपलभ्यौषधिवनस्पतीनां दीर्घत्वदर्शनाद् वृद्धिरनुमीयते।"<sup>392</sup> (४) सांख्य दर्शन के प्रसंग में शयनादि के संघातत्व संघातरूप होने पारार्थत्व भाव की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट की उपर्युक्त परिभाषा से हो जाती है। यथाहि-

<sup>389</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>390</sup> यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>391</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>392</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

“शयनादीनां च सङ्घातत्वात् पारार्थ्यसिद्धेः, कार्यकारणस्यापि सङ्घातत्वात्पारार्थ्यसिद्धिरिति सर्वमिष्टं संगृहीतं भवतीति ।”<sup>393</sup>

इसलिए कहा जा सकता है कि युक्ति दीपिकाकार ने सामान्यतोदृष्ट की यही अन्तिम परिभाषा सम्भवतः स्वीकार की है।

पूर्वपक्ष के द्वारा शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट की भिन्नता न होने पर शंका प्रकट किए जाने पर युक्ति दीपिकाकार शेषवत् अनुमान और सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भिन्नता दर्शाते हैं कि शेषवत् अनुमान में तो नियम पूर्वक ही कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। लेकिन सामान्यतो दृष्ट अनुमान में ऐसे किसी नियम का प्रतिबन्ध नहीं है। इसमें तो संघात के साधारण होने से किसी एक धर्म से उसके अविनाभावी अन्य धर्म का अनुमान किया जा सकता है। वे दोनों धर्म सामान्य और विशेष भी हो सकता है। इन धर्मों में परस्पर कार्यकारण का सम्बन्ध हो यह अवश्यक नहीं है। यथा - कार्य होने से शब्द अनित्य है। यथाहि- युक्तीदीपिकाकार के मतानुसार सामान्यतोदृष्टानुमान के भेद- युक्तीदीपिकाकार कहते हैं कि उस सामान्यतोदृष्टानुमान प्रमाण के प्रयोग के आधार द्विविध माना है। वीत और अवीत्। यथाहि-

“तस्य प्रयोगमात्रभेदाद् द्वैविध्यम्-वीतः अवीत इति ।”<sup>394</sup>

वीत का लक्षण करते हैं कि जब कारण स्व स्वरूप से साध्य की सिद्धि के लिये प्रयोग होता है तब वह ‘वीत’ कहा जाता है। यथाहि- “तयोर्लक्षणमामनन्ति\_यदा हेतुः स्वरूपेण साध्यसिद्धौ प्रयुज्यते ।”<sup>395</sup> तथा जब अर्थान्तर भूत प्रसङ्गिक पदार्थों का निराकरण कर परिशेषात् दूसरा अर्थ सिद्ध किया जाता है उसे ‘अवीत’ कहते हैं। यथाहि-

---

<sup>393</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>394</sup> यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>395</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

“स वीतोऽर्थान्तराक्षेपादितरः परिशेषितः॥”<sup>396</sup>

युक्तिदीपिकाकार ने वीतावीत लक्षणों के साथ ही साधन (हेतु) के स्वरूपों कि भी चर्चा करते हैं। साधन (हेतु) का स्वरूप दो प्रकार का कहा है साधारण और असाधारण (विशिष्ट)। यथाहि – “स्वरूपं हि साधनस्य द्विविधम्—साधारणमसाधारणञ्च।”<sup>397</sup>

जो हेतु (साधन) साध्य का सहभावी होता हुआ उसकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) के हेतु रूप से यथावत् स्वीकार किया जाए वह साधारण हेतु (साधन) कहलाता है। यथाहि- “तत्र साधारणं साध्यसहभावी तत्प्रतिपत्तिहेतुत्वेन यथावदाश्रीयमाणोऽर्थात्मा।”<sup>398</sup>

जब किसी विशिष्ट गुण के साथ कहा जाए, यथा- परिणाम, अन्वय, सङ्घात और पारार्थ्य इत्यादि, उसे असाधारण हेतु कहते हैं। यथाहि- “असाधारणं पुनः परिमाणमन्वयः सङ्घातपरार्थत्वमित्यादि।”<sup>399</sup>

जब हेतु परपक्ष की अपेक्षा अर्थात् दूसरे प्रसङ्गिक वस्तुओं का प्रतिषेध न करते हुए मात्र अपने ही यथार्थ स्वरूप से साध्यसिद्धि में प्रयुक्त होता है उसे वीत हेतु कहलाता हैं। तात्पर्य यह है कि परपक्ष में बिना निराकरण किये हेतु स्वसाध्य की सिद्धि कराता है। यथाहि- “तत्र यदा हेतुः परपक्षमपेक्ष्य यथार्थेन स्वरूपेण साध्यसिद्धावुपदिश्यते, तदा वीताख्यो भवति।”<sup>400</sup>

जब हेतु स्व साध्य से अक्तिरिक्त (अर्थान्तरभूत) दूसरे प्रासङ्गिक वस्तुओं का निराकरण करके परिशेष रूप में साध्यसिद्धि में प्रयुक्त होता हैं। वह अवीत हेतु कहा जाता हैं। यथाहि- “यदा तु स्वसाध्यादर्थान्तरभूतानां प्रसङ्गिनां क्षेपमपोहं कृत्वा

<sup>396</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>397</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>398</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>399</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

<sup>400</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५।

परिशेषतः साध्यसिद्धावुपदिश्यते तदाऽवीताख्यो भवति ।”<sup>401</sup> यथा-परमाणु, पुरुष, ईश्वर, कर्म, दैव, काल आदि से जगत् का प्रदुर्भाव असम्भव है । तो परिशेष रूप में प्रधान से जगत् का प्रदुर्भाव सम्भव है । यथाहि-

“तद्यथा न चेत् परमाणुपुरुषेश्वरकर्मदैवकालस्वभावयदृच्छाभ्यो  
जगदुत्पत्तिः सम्भवति, परिशेषतः प्रधानादिति, तदा पुनरवीताख्यो भवति ।”<sup>402</sup>

यद्यपि युक्तिदीपिकाकार ने कहीं भी परार्थानुमान का शब्दतः उल्लेख नहीं किया है । लेकिन वीत सामान्यतोदृष्ट अनुमान की जो नवीन परिभाषा उपस्थापित की है वह परिभाषा पारार्थानुमान कि ओर इंगित करती है । परिभाषा में कहा गया है कि जब बुद्धिस्थ वहन्यादिकज्ञान उसके सादृश्य दूसरे विज्ञान को व्यक्ति विशेष के अन्दर सम्मिलित करते हुये वाग्मि (प्रमाता) वाक्य का प्रयोग करता है । वह वीत हेतु कहलाता है, इसमें अवयवी वाक्य की कल्पना की जाती है । ये अवयवी वाक्य दस अवयवों से युक्त होता है । युक्तिदीपिकाकार ने जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्य-प्राप्ति एवं संशयव्युदास इन पांच अवयवों को व्याख्या का अङ्ग स्वीकार किया है ।<sup>४</sup> इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार, एवं निगमन इन पांच अवयवोम् को पर-प्रतिपादन का अङ्ग स्वीकार किया है ।<sup>५</sup> परार्थानुमान का आभास इन्हीं पर-प्रतिपादक अङ्गों के माध्यम से होता है । युक्तिदीपिका के द्वारा किये गये विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान को दस अवयवों से युक्त मानकर सम्भवतः परार्थानुमान को ही इङ्गित किया है ।

---

<sup>401</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

<sup>402</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ५ ।

चतुर्थ अध्याय  
आप्त प्रमाण निरूपण

- (१.) आप्त सामान्य परिचय
- (२.) आप्त लक्षण और स्वरूप निरूपण

## चतुर्थ अध्याय

### आप्त प्रमाण

---

#### (१.) आप्त सामान्य परिचय -

भारतीय दार्शनिकों की प्रस्थान परम्परा के मध्य प्रमाणों की परिगणना के प्रसङ्ग में आगम का आप्तोपदेश के रूप में उल्लेख ही नहीं अपितु अनिवार्य रूप से स्वीकृति भी देखने को मिलती है। 'आगम' की व्याख्या चार प्रकार से सम्भव है। आप्तोपदेशात्मक आगम, अनिबद्धप्रसिद्धि रूप आगम, निबद्धप्रसिद्धि रूप आगम, प्रतिभात्मक आगम।

सामान्य लोगों की प्रज्ञा, मलिन मान्यताओं एवं पक्षपात से युक्त होने के कारण लोगों के जीवन में प्रमाण रूप से नहीं होती है लेकिन कथनीय वस्तु का जिसे प्रतिबन्धरहित एवं पूर्ण बोध है उस आप्त के उपदेश की प्रामाणिकता के प्रति किसी को भी सन्देह नहीं होता हैन्। पृथक्-पृथक् प्रसिद्धियों के सम्बन्ध में पृथक् पृथक् आप्तता देखी जाती है। पाणिनि और वररुचि आदि आचार्यों की आप्तता व्याकरण में प्रसिद्ध है परन्तु अक्षपादादि की नहीं। अर्थात् सभी आप्त सभी क्षेत्रों प्रमाण नहीं है तत् तत् विशिष्ट क्षेत्रों में ही प्रमाण के रूप में प्रयुक्त होते हैं ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आप्तता प्रसिद्ध है। यही चरणाप्तवाद अथवा शास्त्राप्तवाद है।

#### (२.) आप्त लक्षण और स्वरूप निरूपण -

आचार्य माठर और आचार्य गौडपाद आप्त प्रमाण की आवश्यकता कहते कि जिन पदार्थों की सिद्धि प्रत्यक्ष (दृष्ट) और अनुमान प्रमाण से नहीं होती है वहाँ आप्त प्रमाण माना जाता है। यथा- सुरलोक में अप्सरा है, नन्दन संज्ञक अरण्य है वहाँ शब्दादि असाधारण द्रव्य है, विमान में निवास इत्यादि। यथाहि-

“प्रत्यक्षानुमानाभ्यां योऽर्थः साधयितुं न शक्य स्तत्राप्तवचनम् । यथा स्वर्गोप्सरसः सन्ति , नन्दनं वनं , तत्र विशेषाः शब्दादयो विषयाः , विमानेऽधिवास इति ।”<sup>403</sup>

तथा

“प्रत्यक्षेणानुमानं वा योऽर्थो न गृह्यते , स आप्तवचनाद् ग्राह्यः । यथेन्द्रो देवराजः , उत्तराः कुरवः , स्वर्गोप्सरस इत्यादि ।”<sup>404</sup>

राग द्वेष रहित आप्त को कहते हैं यथा- ब्रह्म सनत्कुमार आदि । और श्रुति वेद (आम्नाय) को कहलाती है । इन्ही आप्त और श्रुति द्वारा उपदिष्ट जो वचन हैं उन्हें यथारूप श्रद्धाभाव पूर्वक ग्रहण करने को आप्तवचन या शब्द प्रमाण कहते हैं । यथाहि-

“आप्ताः रागद्वेषादिरहिताः ब्रह्मसनत्कुमारादयः , श्रुतिर्वेदः , ताभ्यामुपदिष्टं तथेतिश्रद्धेयमाप्तवचनम् ।”<sup>405</sup>

तथा

“आप्तश्रुतिराप्तवचनश्च । आप्ताः आचार्याः ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः, आप्तान् श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः तदुक्तमाप्तवचनमिति ।”<sup>406</sup>

आचार्य माठर और गौडपाद आप्त पुरुष के मानक को दृष्टिगत रखकर प्रकृति सङ्गत कपिल मुनि का मत प्रस्तुत करते हैं कि आगम को ही आप्तवचन कहते हैं दोषों से रहित हो उसे आप्त कहते हैं । क्योंकि दोष रहित पुरुष बिना किसी आशय के अनृत वाक्यों को सम्भवतः नहीं कहता है । जो स्वकर्म में लिप्त हो , राग द्वेष या सङ्ग दोष रहित हो, इसी प्रकार के लोगों से पूजित हो वह आप्त कहलाता है । यथाहि-

“तत्र प्रक्रान्तमेव तावदभिधीयते भगवतः कपिलस्य मतम् ।

---

<sup>403</sup> मा.वृ. सां.का. ४ ।

<sup>404</sup> गौ. भा. सां.का. ४ ।

<sup>405</sup> मा.वृ. सां.का. ४ ।

<sup>406</sup> गौ. भा. सां.का. ५ ।

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।  
 क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धत्वसम्भवात् ॥  
 स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः ।  
 पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ॥<sup>407</sup>

तथा,

अपि चोक्तम् आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।  
 क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धत्वसम्भवात् । ।  
 स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः ।  
 पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ॥<sup>408</sup>

आचार्य माठर अग्रिम कारिका में पुनः पङ्क्ति को दोहराते हुये कहते हैं कि आप्तश्रुति आप्तवचन कही जाती है यह तीसरा प्रमाण है ब्रह्मादि आचार्य और श्रुति आप्त कहलाते हैं आप्त का अर्थ हैन् साक्षात् अर्थ प्राप्ति व यथार्थ प्राप्ति । या यों कहें कि साक्षात्कृतधर्मा पुरुष यथार्थ को स्वीकार करने वाला तथा उपदेष्टा को आप्त कहते हैं इन्हीं के वचन को आप्तवचन । यथाहि-

“आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु । तृतीयं प्रमाणम् । आप्ता ब्रह्मादय आचार्याः, श्रुतिर्वेदस्तदेतदुभयमाप्तवचनम् । आप्तिः साक्षादर्थप्राप्तिर्यथार्थोपलम्भः तथा वर्तत इत्याप्तः साक्षात्कृतधर्मा यथार्थास्त्या श्रुतार्थग्राही तदुक्तमाप्तवचनम् ॥”<sup>409</sup>

आचार्य माठर कहते हैं कि इसमें भी प्रसिद्धि अर्थात् रूढि या अभिधा, लक्षणा , गुणयोग (गौणी लक्षणा) यह तीन वृत्तियां रहती हैं । तथा इसमें भी त्रिविध लक्षणा होती है ।

<sup>407</sup> मा.वृ. सां.का. ५ ।

<sup>408</sup> गौ. भा. सां.का. ५ ।

<sup>409</sup> मा.वृ. सां.का. ४ ।

जहल्लक्षणा या लक्षणलक्षणा, अजहल्लक्षणा या उपादानलक्षणा, और जहदजहल्लक्षणा या भागवृत्ति लक्षणा । इनका लक्षण प्रमाण शास्त्रों में किया गया है । यथाहि-

“तत्रापि प्रसिद्धिलक्षणागुणयोगात्तिस्रः शब्दवृत्तयः । तत्र लक्षणात्रैविध्यम्। जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेत्यादि प्रमाणशास्त्रेषु बहुतरः प्रपञ्च आस्ते ।”  
आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने आत्म को दोष रहित उसके द्वारा उच्चरित वचन आत्मवचन अर्थात् आगम कहलाता है । यथाहि-

“आत्मः क्षीणदोषस्तेन यदुच्यते तदात्मवचनम् आगमः ।”<sup>410</sup>

आत्म के विषय में आचार्य शङ्कर भगवत्पाद भी आचार्य माठर और आचार्य गौडपाद की तरह ही कहते हैं कि ऐसा भी कहाँ गया है – जो स्वकर्म में अभियुक्त है , राग द्वेष से विवर्जित है । बिना वैर के जो पूजित सद्पुरुष है उसी से जैसा आत्म को जानना चाहिए । यथाहि-

यच्चाहुः -

स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः ।

निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः स तादृशः ॥ इति।<sup>411</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जब कोई प्रेरक व्युत्पन्न पुरुष अर्थात् आचार्य आदि, छात्र आदि को कार्य विशेष का आदेश करने लिये गामानय इत्यादि वाक्य प्रयोग करते हैं तथा आज्ञा पालन करने वाला व्युत्पन्न छात्र तदनुकूल व्यवहार करता है तो समीपस्थ बैठा हुआ अव्युत्पन्न छात्र प्रथम धेनु को लाने इत्यादि विषयक प्रवृत्ति के कारणभूत ज्ञान का अनुमान करके पुनः शब्द श्रवण करके अनन्तर उद्भूत होने से उस ज्ञान की शब्दजन्यता का अनुमान करता है जिस कारण उसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध विशेष का बोध होता है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध विशेष का ज्ञान होने पर शब्द स्व अर्थ का

---

<sup>410</sup> ज.म. सां.का. ४ ।

<sup>411</sup> ज.म. सां.का. ५ ।

अभास (प्रतीति) कराता है अतएव शब्द ज्ञान की अनुमान पूर्वकता सिद्ध है इसी कारण अनुमान के पश्चात् शब्द निरूपण करते हैं। आप्तवचन या आगम युक्त श्रुति का कथन करते हैं। आप्तवचन पद से लक्ष्य का कहा गया है शेष लक्षण है आप्त शब्द का अर्थ प्राप्त या युक्त है। श्रुति का अर्थ वाक्य से उद्भूत वाक्यार्थ ज्ञान है। यथाहि-  
 “प्रयोजकवृद्धशब्दश्रवणसमनन्तरं-प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमानपूर्वकत्वाच्छब्दार्थ-  
 सम्बन्धग्रहणस्य, स्वार्थसम्बन्धज्ञानसहकारिणश्च शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वादनुमान-  
 पूर्वकत्वमित्यनुमानानन्तरं शब्दं लक्षयति-आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु इति। आप्तवचनमिति  
 लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं लक्षणम्। आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चासौ प्रतिश्रुति  
 आप्तश्रुतिः वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्।”<sup>412</sup>

वह वाक्यार्थ ज्ञान जो अन्य निराश्रित या स्वतन्त्र रूप से प्रमाण होता है अपौरुषेय श्रुति (वेद) वाक्यों उद्भूत होने से भ्रम, प्रमाद इत्यादि सभी पुरुष दोष से विहीन होने से युक्त या अनिषिद्ध विषय होता है। इसी तरह वेदादि के आश्रय पर रचित स्मृति, इतिहास और पुराण से उद्भूत हुआ ज्ञान भी युक्त होता है। यथाहि-

“तच्च स्वतः प्रमाणम्, अपौरुषेय वेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषा-  
 शङ्काविनिर्मुक्तत्वेन युक्तं भवति। एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं  
 युक्तं भवति।”<sup>413</sup>

आदि ज्ञानी कपिल पूर्वकल्प अधीत वेद का इस कल्प के शुरुआत में स्मरण होना सम्भव है। जिस प्रकार सो कर उठे हुए व्यक्ति को पहले दिन अधीत विद्या का स्मरण रहता है। तथा जैसे आवट्ट्य और भगवान् जैगीषव्य के सम्वाद में जैगीषव्य ने ‘दश महाकल्पों में

<sup>412</sup> सां.तत्वकौ. सां.का. ४।

<sup>413</sup> तत्रैव, सां.तत्वकौ. सां.का. ४।

जन्म परिणाम अनुभव करते हुये मैंने' इत्यादि वाक्यों के द्वारा दश महाकल्पों तक स्मरण की बात कही गयी है। यथाहि-

“आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीतश्रुतिस्मरणसम्भवः, सुप्तप्रबुद्धस्येव पूर्वैद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः । तथा च आवद्ध्यजैगीषव्यसंवादे भगवान् जैगीषव्य दशमहाकल्पवर्तिजन्मस्मरणमात्मन उवाच —‘दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्तमानेन मया’ इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण ।”<sup>414</sup>

आप्त पद के ग्रहण का आशय बतलाते हैं कि आप्त पद ग्रहण करने से अनाप्तों (बौद्ध, जैन, चार्वाक ) के सादृश्य प्रतीत होने वाले असत् वचनों का परिहार हो जाता है। क्योंकि इनके वचनों की असत्यता, परस्पर विरोधी और वेदादि मूलक न होने, प्रमाण विरुद्ध कथन तथा मेच्छादि निम्न कोटि के पुरुषों के माध्यम माने जाने से अवगत कर लेनी चाहिये। कारिका में प्रयुक्त तु शब्द अनुमान प्रमाण से आगम प्रमाण को पृथक् करता है। यथाहि-

“आप्तग्रहणेनाऽयुक्ताः शाक्यभिक्षुर्निर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृताः भवन्ति । अयुक्तत्वं चैतेषां विगानात्, विच्छिन्नमूलत्वात्, प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानात् कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद् बोद्धव्यम् । तुशब्देनानुमानाद् व्यवच्छिन्नत्ति ।”<sup>415</sup>

युक्तिदीपिकाकार आप्त प्रमाण का लक्षण करते हैं कि अत्यन्त परोक्ष विषय का प्रमाणिक वचन से निश्चय करना ही आप्तवचन कहा जाता है। यथाहि-

“आप्तवचनं तु प्रमाणभूतद्वारकोऽत्यन्तपरोक्षेऽर्थे निशयः ।”<sup>416</sup>

<sup>414</sup> तत्रैव, सां.तत्वकौ. सां.का. ४ ।

<sup>415</sup> तत्रैव, सां.तत्वकौ. सां.का. ४ ।

<sup>416</sup> यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ४ ।

तथा स्वार्थाभिप्राय रहित पुरुष द्वारा कथित परार्थ वचन आप्तवचन है। आप्तश्रुति पद का निर्वचन तीन प्रकार से किया है। (१) आप्त कपिल इत्यादि पुरुषों की श्रुति (विषय) आप्तश्रुति कही जाता है। (२) आप्त पुरुषों द्वारा परम्परा से आने वाले वाक्यार्थ रूप ज्ञान को आप्तश्रुति कहा जाता है। (३) 'आप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुति' आप्तश्रुति पद को ऐकशेष समास मानकर निर्वचन किया गया है। इसमें प्रथम आप्तश्रुति पद से अपौरुषेय वेद कहा गया है। स्वतन्त्र और पुरुष के कैवल्य के लिये प्रवर्तमान निस्संशय रूप से वेद प्रमाण है। द्वितीय आप्तश्रुति पद ग्रहण का तात्पर्य यह है मनु आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत स्मृतियों का, वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द) तर्क, इतिहास पुराण का, शिष्टजनों और दोष रहित नाना शिल्पों के विद्वान पुरुष का जो वचन है वह भी आप्तवचन प्रमाण है। अतः आप्तश्रुति पद की व्युत्पत्ति से बोध होता है कि शिष्ट और दोष रहित पण्डित के वचन जा सकते हैं जिनके वाक्य अपौरुषेय वेदानुकूल हैं अन्यो के नहीं। यथाहि-

“आप्ता नाम रागादिवियुक्तस्यागृह्यमाणकारणपरार्थाः व्याहृतिः । श्रवणं श्रुतिः । आप्ता चाऽसौ श्रुतिराप्तश्रुतिः । अथवा आप्ताऽस्यास्तीत्याप्तः । अकारो मत्वर्थीयः । तद्यथा तुन्दो घट इति । आसेभ्यः श्रुतिराप्तश्रुतिः । आप्तश्रुतिश्चाप्तश्रुतिः । सरूपाणामित्येकशेषः । तत्र पूर्वेणाप्तश्रुतिग्रहणेनैव प्रतिपादयति अपुरुषबुद्धिपूर्वक आम्नायः, स्वतन्त्रः पुरुषनिःश्रेयसार्थं प्रवर्तमानो निःसंशयं प्रमाणमिति । द्वितीयेन मन्वादिनिबन्धनानां च स्मृतीनां वेदाङ्गतर्केतिहासपुराणानां शिष्टानां नानाशिल्पाभियुक्तानां चादुष्टमनसां यद्वचस्तत्प्रमाणमित्येतत्सिद्धं भवति । तु शब्दोऽवधारणार्थः । आप्तश्रुतिरेवाप्तवचनं न शब्दमात्रम् ।”<sup>417</sup>

<sup>417</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ४ ।

## पञ्चम् अध्याय

### प्रमाणान्तरभाव निरूपण

- (क) उपमान प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट
- (ख) अर्थापत्ति प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट
- (ग) सम्भव प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट
- (घ) अभाव प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट
- (ङ) ऐतिह्य प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट
- (च) प्रतिभा और चेष्टा प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट

## पञ्चम् अध्याय प्रमाणान्तरभाव निरूपण

आचार्य माठर पूर्वपक्ष की शङ्का करते हैं कि अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, प्रतिभा, ऐतिह्य, उपमानादि बहुत से प्रसिद्ध प्रमाण है तब आप ने तीन ही प्रमाणों कैसे कहा? यथाहि-

“नन्वर्थापत्तिः सम्भवोऽभावः प्रतिभा ऐतिह्यमपुमानश्चेतिप्रभृतीनि सन्ति बहूनि प्रमाणान्तराणि कथमत्र त्रिविधं प्रमाणमिति सङ्गतिः ।”<sup>418</sup>

आचार्य माठर कारिकांश को उद्धृत करते हैं कि पूर्व पक्ष द्वारा गिनाये गये सभी प्रमाण इन्हीं तीन प्रमाणों में सन्निविष्ट हो जाते हैं । सभी प्रमाण तीन प्रमाणों के विरुद्ध हैं । यथाहि – “अत्रोच्यते –सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । सर्वाणि हि प्रमाणानि प्रमाणत्रयेऽविरुद्धानि ।”<sup>419</sup>

आचार्य गौडपाद भी कहते हैं इन त्रिविध प्रमाणों से ही सभी प्रमाण सिद्ध हो जाते जाते हैं । षट् प्रमाण आचार्य जैमिनि कहे हैं । वह षट् कौन-कौन से हैं? यथा- अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, प्रतिभा, ऐतिह्य और उपमान । यथाहि-

“एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति । षट्प्रमाणानि इति जैमिनिः । अथ कानि चानि प्रमाणानि? अर्थापत्तिः, सम्भवः, अभावः, प्रतिभाः, ऐतिह्यम्, उपमानं चेति षट्प्रमाणानि ।”<sup>420</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद भी पूर्व पक्ष को प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि यह तीन प्रमाण तो प्राधान है ही । अन्य प्रतिभादि प्रमाण माने जाते हैं। कहा भी गया है ।- प्रतिभा, उपमान, ऐतिह्य, अभाव, सम्भव और अर्थापत्ति यह अपर दर्शनिक मानते हैं । यथाहि-

<sup>418</sup> मा.वृ. सां.का. ४ ।

<sup>419</sup> तत्रैव, मा.वृ. सां.का. ४ ।

<sup>420</sup> गौ. भा. सां.का. ४ ।

“ ननु चान्यान्यपि प्रतिभादीनि प्रमाणानि सन्ति । तद्यथा-

प्रतिभौपम्यमैतिह्यमभावः सम्भवस्तथा ।

अर्थापत्तिरितीमानि प्रमाणान्यपरे जगुः ॥ इति।<sup>421</sup>

समाधान करते हुये कारिकांश को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि समस्त प्रमाणो प्रतिभादि की सिद्धि त्रिविध प्रमाणों से ही हो जाती है । अर्थात् अन्तर्भाव हो जाता है। यथाहि-

“अस्मिन् पूर्वपक्ष आह- सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति । सर्वेषां प्रतिभादीनां प्रमाणानां सिद्धत्वात्, त्रिविध अन्तर्भावादित्यर्थः ।”<sup>422</sup>

आचार्य वाचस्पति कहते हैं कि तीन ही प्रमाण है तीन से न कम न अधिक । यथाहि-

“तिस्रो विधा अस्य प्रमाणसामान्यस्य तत् त्रिविधं न न्यूनं नाप्यधिकमित्यर्थः ।”

प्रश्न कर्ता कहता है कि तीन से न्यून न हो तो न सही, किन्तु अधिक क्यों नहीं? गौतमादि प्रतिवादि उपमानादि को भी प्रमाण मानते हैं । कारिकांश प्रस्तुत कर उत्तर देते हैं त्रिविध ( प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त ) प्रमाणों में अन्य समस्त प्रमाण सन्निविष्ट हो जाते हैं । यथाहि-

“स्यादेतत्- मा भून्मूनम्, अधिकं तु कस्मान्न भवति ? सङ्गिरन्ते हि प्रतिवादिनः उपमादिन्यपि प्रमाणानि, इत्यत आह- ‘ सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्’ इति । एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वात् अन्तर्भावादित्यर्थः ।”<sup>423</sup>

युक्तिदीपिकाकार पूर्वपक्ष को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि यह कैसे ज्ञात किया जाये कि प्रमाण तीन ही प्रकार के हैं । विभिन्न प्रकार के नहीं है ? साथ ही प्रतिपक्षी द्वारा अन्य शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, एतिह्य इत्यादि ।

यथाहि-

---

<sup>421</sup> ज.म. सां.का. ४ ।

<sup>422</sup> तत्रैव, ज.म. सां.का. ४ ।

<sup>423</sup> सां.तत्वकौ. सां.का. ४ ।

“आह- कथं पुनरेतद् गम्यते, यथा त्रिविधमेव प्रमाणं न पुनरनेकविधमपीति ?”<sup>424</sup>

तथा,

आह – त्रैविध्याऽनुपपत्तिः , न्यूनाधिकश्रवणात् । तन्त्रान्तरीयाः केचित् चत्वारि प्रमाणानीच्छन्ति । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति वचनात् । तथा षडित्यन्ये ।

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दं चोपमया सह ।

अर्थापत्तिरभावश्च हेतवः साध्यसाधकाः ॥

इत्यभिधानात् । एतानि सम्भवैतिहाचेष्टासहितानि नवेत्यपरे । प्रत्यक्षानमाने एवेति वैशेषिक बौद्धाः ।<sup>425</sup>

इस आक्षेप का उत्तर कारिकांश प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि सर्व प्रमाणों का तीन में ही सन्निविष्ट हो जाने से प्रमाण तीन प्रकार का ही हैं । सर्वप्रमासिद्धत्वात् इस कारिकांश का समास प्रस्तुत करते हैं। सर्व प्रथम कर्मधारय समास कहते हैं- ‘सर्वाणि च प्रमाणानि सर्वप्रमाणानि’ तत्पश्चात् षष्ठीतत्पुरुष समास कहते हैं- ‘सिद्धस्य भावः सिद्धत्वम्, सर्वप्रमाणानां सिद्धत्वं सर्वप्रमाणसिद्धत्वम्’ हेतु अर्थ में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग करके सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् यह हेतुवाक्य बनता है जो कि पूर्ण नहीं है अतएव तस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाणे यह पद उस अपूर्ण वाक्य का पूर्ण वाक्यांश जानना चाहिये हैं । यथाहि-

“उच्यते - सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । सर्वाणि च तानि प्रमाणानि सर्वप्रमाणानि । सिद्धस्य भावः सिद्धत्वम् । सर्वप्रमाणानां सिद्धत्वं सर्वप्रमाणसिद्धत्वम् । सिद्धत्वमन्तर्भाव इत्यर्थः । तस्मात् सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् । तस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाणे इति वाक्यशेषः । सर्वेषां पर परिकल्पितानां प्रमाणानामस्मिन्नेव त्रिविधे प्रमाणेऽन्तर्भावादिति यावदुक्तं स्यात्तावदिदमुच्यते सर्वप्रमाणसिद्धत्वादिति ।”<sup>426</sup>

<sup>424</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ४ ।

<sup>425</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ४ ।

<sup>426</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ.सा.का. ४ ।

(क) उपमान प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट- आचार्य माठर उपमान

प्रमाण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि जैसी गाय होती है उसी प्रकार गवय भी ।

यह अनुमान प्रमाण ही है । यथाहि-

“उपमानम् - यथा गौस्तथा गवय इत्यप्यनुमानमेव ।”<sup>427</sup>

आचार्य गौडपाद भी उदाहरण से ही प्रस्तुत करते हैं किन्तु वह आप्त प्रमाणान्तर्गत स्वीकार करते हैं यथा गौ के समान हि गवय है । समुद्र के समान सडक हैं ।<sup>428</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि धेनु के समान ही नीलगाय ( गवय ) जाना जाता है । किसी नीलगाय (गवय) को जानने वाले आप्त पुरुष से पूछता है कि नीलगाय कैसी होती है ? वह आप्त पुरुष उसको कहता है कि जैसी धेनु वैसी ही नीलगाय होती है ।

अतः यह उपमान प्रमाण पृथक् प्रमाण नहीं है । तथा आप्त पुरुष के जो प्राप्त हुए उपदेश को सुनकर नीलगाय को देखकर धेनुवत् विषाणादि चिन्ह व्यवहार देखकर जो अनुमिति होती है वह अनुमान प्रमाण है अन्य प्रमाण नहीं । यथाहि – “गौरिव गवयः ' इत्यौपम्यम्

। तत्र गवयमजानानः कश्चिदाप्तं पृच्छति ' कीदृशो गवयः ' इति । स तमाह - ' यादृशो

गौस्तादृशो गवयः ' इति । तदेतदाप्तवचनमेव न प्रमाणान्तरम् । यदापि लब्धोपदेशो गवयं

पश्यति , तदापि गवि दृष्टेनैव विषाणादिना लिङ्गेन गवयस्य व्यवहारं

प्रवर्तयतीत्यनुमानमेव न प्रमाणान्तरम् ।”<sup>429</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र उदाहरण प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि यथा धेनु के समान ही वनगौ होती है यह उपमान प्रमाण है इस वाक्यांश से उद्भूत ज्ञान आगाम

---

<sup>427</sup> मा.वृ., सां.का. ४ ।

<sup>428</sup> गौ.भा.सां.का. ४ ।

<sup>429</sup> ज.म., सां.का. ४ ।

प्रमाण ही है क्योंकि आप्त जन्य ज्ञान को आगाम कहा जाता है। यथाहि- “उपमानं तावत् यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम्। तज्जनिता धीरागम एव।”<sup>430</sup>

गवय (वनगौ) शब्द धेनु के सादृश्य पिण्ड का वाचक है इस प्रकार की प्रतीति अथवा ज्ञान अनुमान प्रमाण का ही परिणाम हैं। वो इस तरह है- (प्रतिज्ञा) गवय (वनगौ) शब्द धेनु सादृश्य पिण्ड संज्ञा वाला है। (हेतु) क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषो के माध्यम से जो ध्वनि जिस वस्तु व पदार्थ के लिए प्रयोग होता है, वह अभिधा से अतिशय दूसरी वृत्ति के नहीं होने पर भी उसी संज्ञा वाला (वाचक) होता हैं। (दृष्टान्त) यथा धेनु शब्द धेनुत्व का। (उपनय) गवय (वनगौ) शब्द धेनु सादृश्य पिण्ड के लिए प्रयोग होता है। (निगमन) अतः गवय (वनगौ) शब्द धेनु सादृश्य पिण्ड का ही वाचक हैं। अतएव यह ज्ञान अनुमिति ही हैं। यथाहि-

“योऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः, सोऽप्यनुमानमेव। यो हि शब्दो यत्र बुद्धैः प्रयुज्यते, सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गोसदृशे, इति तस्यैव वाचकः-इति तज्ज्ञानमनुमानमेव।”<sup>431</sup>

वनगौ का नेत्र से प्रत्यक्ष होने पर उसमे स्थित धेनु सादृश्य का ‘यह गो सदृश है’ इस प्रकार ज्ञान तो प्रत्यक्ष (दृष्ट) ही हैं। मीमांसक सम्मत उपमिति नहीं, क्योंकि जिस तरह विषयी-विशेष से वस्तु या पदार्थ विशेष का प्रत्यक्ष होने पर उसी के माध्यम से उसके सामान्य का भी प्रत्यक्ष (दृष्ट) हो जाता है। उसी तरह उसी विषयी के माध्यम से तद्गत सादृश्यता का भी दृष्ट हो जाता है। अतः उपमान का कोई पृथक् प्रमेय विषय न होने से उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं है। यथाहि-

“यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव। अतएव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम्। न ह्यन्यद् गवि सादृश्यमन्यच्च गवये।

<sup>430</sup> सां.तत्वकौ. सां.का. ५।

<sup>431</sup> तत्रैव, सां.तत्वकौ. सां.का. ५।

भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते। सामान्य-योगश्चैकः, स चेद् गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति यत्र प्रमाणमुपमानं भवेदिति न प्रमाणान्तरमुपमानम् ।”<sup>432</sup>

युक्तिदीपिकाकार उपमान का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ज्ञात (प्रसिद्ध) साधर्म्य के आश्रय पर अज्ञात वस्तु या पदार्थ की सिद्धि को उपमान प्रमाण कहते हैं। इनमें ज्ञान अवबोध की विधि इस तरह वर्णित है यथा- वनगौ नामक पशु से अज्ञात व्यक्ति, किसी ऐसे व्यक्ति से जिज्ञासावश पूछता है जो व्यक्ति उस वनगौ नामक पशु को भली भाँती जानता है। कि वनगौ क्या है किसे कहा जाता है? व्यक्ति प्रश्नकर्ता के प्रत्युत्तर में कहता है कि जैसी धेनु होती है उसी प्रकार वनगौ होती है इस प्रकार वह अज्ञात व्यक्ति ज्ञात व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित धेनु रूप से प्रसिद्ध वस्तु को साधर्म्य से युक्त संस्कार वाले को अदृष्ट वनगौ के स्वरूप का बोध कर लेता है कि निश्चय ही इसी स्वरूप वाली वनगौ होती है। यथाहि-

“आह - प्रसिद्धसाधात् साध्यसाधनमुप मानम् । प्रसिद्ध प्रज्ञातः , तेन साधर्म्यात् साध्यस्याऽप्रसिद्धस्य साधनमधिगमो यस्तदुपमानम् । अवबोधविधिस्तु - येनाऽनुपलब्धो गवयः स तस्योपलभ्यर्थमधिगतगवयं पर्यनुयुङ्क्ते- किंरूपो गवय इति । स तस्मा आचष्टे - यथा गौरेवं गवय इति । तत्र प्रतिपत्त्याऽत्यन्ताऽनुपलक्षितगवयस्वरूपो व्याख्यातप्रतिपादितप्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यज्ञाना हितसंस्कारः प्रतिपद्यते - नूनमेवंरूपो गवय इति ।”<sup>433</sup>

किसी अन्य (न्यायवार्तिककार) ने उपमान का लक्षण किया है कि आप्तजन के वचन से उद्भूत ज्ञात (प्रसिद्ध) वस्तु के साथ साधर्म्य ज्ञान से युक्त संस्कार वाले व्यक्ति को पश्चात् काल में उस वस्तु का दृष्ट (प्रत्यक्ष) हो, एवं यह भी ज्ञात हो कि इस शब्द का यह

<sup>432</sup> तत्रैव, सां.तत्वकौ. सां.का. ५।

<sup>433</sup> यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४।

तात्पर्य है तो यह समाख्या-सम्बन्ध-प्रतिपत्ति अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्ध प्रतीति उपमान कहा जाता है। यथाहि-

“अपर आह – प्रति(पत्तु) (?) रासवचनोप जनितप्रसिद्धवस्तुसाधर्म्य-  
ज्ञानाहितसंस्कारस्योत्तरकालं प्रत्यक्षेण तमुपलभ्य या समाख्या सम्बन्धप्रतिपत्तिः-  
अयमसावर्थोऽस्य शब्दस्य समाख्या इति – तदुपमानमुच्यते।”<sup>434</sup>

‘जैसी धेनु वैसी वनगौ’ इस आसोपदेश के सामर्थ्य से अज्ञात ‘वनगौ’ का ज्ञान होता है साधर्म्य से नहीं, अतएव उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण से पृथक् नहीं है। यथाहि-

“यथा गौरेवं गवय इति चासोप देशबलात् प्रतिपत्ता अप्रसिद्ध गवयमुपलभते न  
साधर्म्यमात्रात्। तस्मान्न शब्दात् पृथगुपमा।”<sup>435</sup>

(ख) अर्थापत्ति प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट- आचार्य माठर अर्थापत्ति प्रमाण का दृष्टान्त उपस्थापित करते हुये कहते हैं कि जैसे कोई देवदत्त संज्ञक स्थूल प्राणी दिन में भोजन नहीं करता है इस प्रकार कहने से रात्रि में भोजन अवश्य करता होगा इस प्रकार काल्पनिक जो तात्पर्य है वही अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है, वस्तुतः यह अनुमान प्रमाण ही है। यथाहि-

“तत्र पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्त इत्युक्ते रात्री भुङ्क्त इत्यर्थः।  
साऽर्थापत्तिरनुमानमेव।”<sup>436</sup>

आचार्य गौडपाद अर्थापत्ति प्रमाण के द्विविध भेद मानते हैं दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति।

एक पक्ष में ग्रहण किया गया आत्मभाव, अन्य से भी आत्मभाव का ही ग्रहीत होना दृष्टार्थापत्ति प्रमाण कहलाता है। देवदत्त नामक प्राणी दिन में नहीं भक्षण नहीं करता है

<sup>434</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४।

<sup>435</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४।

<sup>436</sup> मा.वृ., सां.का. ४।

तब भी वह तन्दरुस्त दिखायी देता है इसलिए यह अनुमित हो जाता है कि वह रात्रि मे भक्षण करता है। यह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। यथाहि-

“तत्रार्थापत्तिद्विविधा - दृष्टा श्रुता च । तत्र दृष्टा – एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृहात एव । श्रुता यथा - दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते , अथ च पीनो दृश्यते , अतोऽवगम्यते - रात्रौ भुङ्क्ते इति ।”<sup>437</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद भी उपर्युक्त दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुये कहते है कि देवदत्त संज्ञक व्यक्ति दिन मे भक्षण न करने पर भी बलवान है इस प्रकार के तात्पर्य से रात्रि मे भक्षण करता होगा यह अर्थापत्ति है। रात्रि में ही भक्षण करता होगा यह प्रतीति अनुमान प्रमाण से स्पष्ट हो जाती है। यथाहि-

“देवदत्तो दिवा न भुते बलवांश्च ' इत्युक्तेऽर्थाद् ' रात्रौ भुते ' इत्यर्थापत्तिः । तत एव रात्रौ तस्य प्रतीतिरनुमानान्न भिद्यते ।”<sup>438</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते है कि उपमान की तरह अर्थापत्ति प्रमाण भी पृथक् प्रमाण नहीं है। यथा जीवित चैत्र नामक किसी व्यक्ति के घर पर न दिखायी देने पर उसके प्रत्यक्ष रहित बहिर्भाव की कल्पना को अर्थापत्ति कहा गया है किन्तु यह अर्थापत्ति प्रमाण अनुमान प्रमाण ही है क्योंकि कोई अव्यापक या एकदेशीय पदार्थ सत् पदार्थ किसी एक स्थान पर न होता है तो अन्यत्र जरूर होता है एवं जब अन्यत्र नहीं होता है तो उस स्थान पर अवश्य रहता है इस प्रकार कि व्याप्ति अपने पिण्ड के उदाहरण से ही सहजता से समझा जा सकता है इस तरह जीवित चैत्र मकान में नहीं दिखलाई देता, इसलिए वह मकान (लिङ्ग) से बाहर होगा इस प्रकार का ज्ञान ही अनुमान है। यथाहि-

---

437 गौ.भा.सां.का. ४ ।

438 ज.म. सां.का. ४ ।

“एवमर्थापत्तिरपि न प्रमाणान्तरम्। तथा हि-जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमतता बृद्धानाम्। साऽप्यनुमानेव। यदा खल्वव्यापकः सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति। यदाऽव्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्तीति सुकरः स्वशरीरे एव व्याप्तिग्रहः। तथा च सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानमेव।”<sup>439</sup>

प्रतिपक्षी शङ्का करता है कि चैत्र का अन्यत्र विद्यमान होने से उसका गृह में होना स्वतः बाधित हो जाता है। क्योंकि चैत्र के बाहर होने के अनुमान के हेतु का कारण से चैत्र का गृहाभाव का हेतु ही नहीं है अतः यह कहना उचित नहीं है कि चैत्र के कहीं बाहर होने से उसका गृह में उसके अभाव के कारण चैत्र का होना ही असिद्ध है। तब चैत्र का बाहर होना ही कैसे सिद्ध हो सकता है। अतः यहाँ साध्यशून्य पक्ष रूप बाध-दोष का प्रसंग उपस्थित होगा। कौमुदीकार उपर्युक्त का समाधान करते हैं कि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा निश्चित गृहाभाव चैत्र के परोक्ष गृहसत्त्व का प्रतिषेध करता हुआ उसकी जहाँ कहीं भी सत्ता का प्रतिषेध करने और गृहसत्त्व कि संदेहास्पदता को दूर करने में समर्थ है। घर में सीमित चैत्र के अभाव से उसके गृह में होने का विरोध है, उसकी सत्ता का विरोध नहीं, क्योंकि गृहाभाव के विषय में उदासीन है। इस प्रकार चैत्र के गृहाभाव रूप सिद्ध हेतु के द्वारा बहिर्भाव का अनुमान होता है। यथाहि-

“न च चैत्रस्य क्वचित्सत्त्वेन गृहाभावः शक्योऽपहनोतुम्, येनासिद्धो गृहाभावो बहिर्भावेन हेतुः स्यात् । न च गृहाभावेन वा सत्त्वमपहनूयते येन सत्त्वमेवानुपपद्यमानमात्मानं न बहिरवस्थापयेत् । तथाहि-चैत्रस्य गृहासत्त्वेन सत्त्वमात्रं वा विरुध्यते गृहसत्त्वं वा ? न तावद्यत्र क्वचन सत्त्वस्यास्ति विरोधो गृहासत्त्वेन, भिन्नविषयत्वात् । देशसामान्येन गृहविशेषाक्षेपोऽपि पाक्षिक इति समानविषयकतया

<sup>439</sup> सां.तत्वकौ. सां.का. ५ ।

विरोध इति चेन्न, प्रमाणविनिश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगात् । नापि प्रमाणनिश्चितो गृहाभावः पाक्षिकमस्य गृहसत्त्वं प्रतिक्षिपन् सत्त्वमपि प्रतिक्षेप्तुं सांशयिकत्वं वा व्यपनेतुमर्हतीति युक्तम् । गृहावच्छिन्नेन चैत्राभावेन गृहसत्त्वं विरुद्ध्यते, प्रतिक्षिप्यते, न तु सत्त्वमात्रम्, तस्य तत्रौदासीन्यात् । तस्माद् गृहाभावेन लिङ्गेन सिद्धेन सतो बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम् ।”<sup>440</sup>

इसी से कुछ महानुभावों के इस कथन क भी परिहार हो जाता है कि प्रत्यक्ष (दृष्ट) एवं आगम प्रमाणों से लब्ध हुये (चैत्र नामक व्यक्ति के गृहाभाव एवं बहिर्भाव) ज्ञान में प्रतिरोध होने पर विषय का प्रबन्ध (यथा गृहाभाव प्रत्यक्ष(दृष्ट) का तथा बहिर्भाव आस प्रमाण का विषय है ।) करके प्रतिरोध का परिहार करना अर्थापत्ति का विषय है क्योंकि विशिष्ट ( गृहाभाव ) एवं सामान्य (बहिर्भाव) में कोई प्रतिरोध नहीं है । अर्थापत्ति के अन्य दृष्टान्तों का भी इसी भाँति अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत सन्निविष्ट कर लेना चाहिए । अतः अर्थापत्ति कोई अनुमान पृथक् से प्रमाण नहीं हैं । यथाहि-

“एतेन ‘विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधोपपादनमर्थापत्तेर्विषयः इति निरस्तम् , अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाभावात् । उदाहरणान्तराणि चार्थापत्तेरेवमेवानुमानेऽन्तर्भावणीयानि । तस्मान्नानुमानात् प्रमाणान्तरमापत्तिरिति सिद्धम् ।”<sup>441</sup>

युक्तिदीपिकाकार अर्थापत्ति प्रमाण को प्रस्तुत कहते हुये कहते कि जब दो अर्थों का पहले व्यभिचाराभाव समझकर पश्चात् उनमें से किसी एक के दर्शन व श्रवण से दूसरे अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाती है उसे अर्थापत्ति कहा जाता हैं । आचार्य गौडपाद की तरह युक्तिदीपिकाकार भी अर्थापत्ति प्रमाण को दो भेदों के साथ प्रस्तुत करते हैं । चक्षुन्द्रिय से गुड को देखकर उसके माधुर्य को रसनेन्द्रिय से ज्ञान हो जाता है उसे दृष्टार्थापत्ति कहते हैं

<sup>440</sup> तत्रैव, सां.तत्वकौ. सां.का. ५ ।

<sup>441</sup> तत्रैव, सां.तत्वकौ. सां.का. ५ ।

। तथा गुड पद को श्रवण कर अशब्दज माधुर्य संज्ञक गुड का ज्ञान करना श्रवणार्थापत्ति कहलाती है। यथाहि-

“तत्रार्थापत्ति म यत्रार्थयोः पूर्वमव्यभिचारमुपलभ्य पश्चादन्यतरस्य दर्शनाच्छ्रवणाद्वान्य तरस्मिन्प्रतिपत्तिर्भवति । दर्शनाद्यथा गुडमुपलभ्य माधुर्यमिन्द्रियान्तरविषयं प्रतिपद्यते । श्रवणाद्यथा गुडशब्दं श्रुत्वा माधुर्यमशब्दकं प्रतिपद्यत इति ।”<sup>442</sup>

युक्तिदीपिकाकार अर्थापत्ति प्रमाण का एक और लक्षण प्रस्तुत करते हैं कि जहाँ दो धर्मों के सहचारभाव का आलोकन कर, उसके प्रतिपक्षियों के भी साहचर्य की भी संकल्पना कर ली जाये तो उसे भी अर्थापत्ति कहते हैं। वह अर्थापत्ति दो प्रकार की है व्यभिचारिणी और अव्यभिचारिणी। यथाहि-

“अपरा खल्वपत्तिः । यत्र धर्मयोरव्यभिचारमुपलभ्य तत्प्रतिद्वन्द्विनोरपि साहचर्यकल्पना । सा तु द्विविधा – व्यभि चारिणी चाव्यभिचारिणी च ।”<sup>443</sup>

व्यभिचारिणी अर्थापत्ति – यथा सावयव और निरयव के कथन करने पर उनके प्रतिपक्षी पदार्थ निरवयव और नित्य का ज्ञान हो जाता है। तथा जो अविनाभाव से युक्त और व्यभिचार भाव से शून्य अर्थापत्ति होती है उसे अव्यभिचारिणी अर्थापत्ति कहते हैं। यथा- गुफ़ा में शेर और वराह का लडता हुआ आलोकन कर पश्चात् वराह द्वारा घायल शरीर वाले शेर को जाते हुए देखकर यह ज्ञान होता है कि शेर से वराह जीत गया। यह अनुमान ही है। इस प्रकार अर्थापत्ति अनुमान प्रमाण से पृथक् प्रमाण नहीं हैं। यथाहि-

“तत्र व्यभिचारिणी यथा सावयवमनित्यमित्युक्तेऽर्थादापन्नं निरवयवं नित्यमिति । तच्च कर्मादिष्वदृष्टमित्येषाऽनैकान्तिकत्वात्प्रमाणमेव न भवतीति । या त्वविनाभाविनी अव्यभिचारिणी यथा केसरिवराहयोरुपगहरे सन्निपातमुपलभ्योत्तर कालं केवलं केसरिणं

<sup>442</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४ ।

<sup>443</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४ ।

वराहव्रणाङ्कितशरीरं प्रयान्तमुपलभ्य प्रतिपद्यते जितो वराह इति तदनुमानम् । कथम् ? यस्मात्केसरिवराहयो - जयपराजयौ तयोरव्यभिचारी सम्बन्धः । तत्र यदा केसरिणो जयमुपलभ्याव्यभिचारिणमितरस्य पराजयं प्रतिपद्यते किमन्यत्स्यादृतेऽनु मानात् ? अधिगतोभयसम्बन्धिसमुदायस्य हि प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षीभूतान्यतरसम्बन्धिनो या सम्बन्ध्यन्तरप्रतिपत्तिस्तदनुमानम् । इत्थं चार्थापत्तिरतो न तस्मात्पृथग्भवितुमर्हति ।”<sup>444</sup>

(ग) सम्भव प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट- आचार्य गौडपाद और आचार्य माठर सम्भव प्रमाण को दृष्टान्त के साथ प्रस्तुत करते हैं कि प्रस्थ इस कथन से चार कुडव का ज्ञान होगा यह ज्ञान सम्भव प्रमाण है जो अनुमान प्रमाणान्तर सन्निविष्ट हो जाता है । यथाहि-

“प्रस्थ इत्युक्ते चत्वारः कुडवा इति बोधः सम्भवः ।”<sup>445</sup>

तथा

“सम्भवो यथा - प्रस्थ इत्युक्ते चत्वारः । कुडवाः सम्भाव्यन्ते ।”<sup>446</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद भी यही दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि ‘माषः प्रस्थ’ यह कहने से चार कुडव यह भी हो सकते हैं इसे ही सम्भव प्रमाण कहा जाता है । वहाँ समुदाय लिङ्ग अवयव लिङ्गी से परिच्छेदवत् अनुमान ही है । अवयव समुदाय के आरब्ध से कार्य-कारण लक्षण सम्बन्ध है । यथाहि-

<sup>444</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४ ।

<sup>445</sup> मा.वृ., सां.का. ४ ।

<sup>446</sup> गौ.भा.सां.का. ४ ।

“माषः प्रस्थः , इत्युक्ते चत्वारः कुडवा इतीदमपि सम्भवति ' इत्ययं सम्भवः । तत्र समुदायलिङ्गावयवलिङ्गिनः परिच्छेदादनुमानमेव । अवयवैः समुदायस्यारब्धत्वात् कार्यकारणलक्षणः सम्बन्धः ।”<sup>447</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र नवीन दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि खारी में द्रोण आढक, प्रस्थ आदि अल्प तौल सम्भव है ऐसा ज्ञान बोधक सम्भव संज्ञक जो पृथक् प्रमाण पौरणिकों को स्वीकार है वह भी अनुमान प्रमाण ही हैं क्योंकि द्रोण आढक इत्यादि के अतिरिक्त न होने वाली तात्पर्य यह है उनसे व्याप्त 'खारी' अपने में द्रोण इत्यादि अल्प तौलो(परिणामों) की सत्ता का अनुमान कराती है । यथाहि-

“सम्भवस्तु यथा-खार्या द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः। स चानुमानमेव। खारीत्वं हि द्रोणाद्यविनाभूतं प्रतीतं खार्या द्रोणादिसत्त्वमवगमयति ।”<sup>448</sup>

युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि द्रोण प्रस्थ है इस कथन पर प्रस्थ अन्तर्गत अर्धद्रोण आदि भी अन्तर्भाव है यह निश्चय हो जाती है इसे सम्भव कहते हैं साहचर्य सङ्कल्पना के कारण यह अर्थापत्ति भी है, क्यकि प्रस्थ प्रमाण वाले द्रव्य में द्रोण शब्द प्रयुक्त होता है न न्यून है न आधिक्य में । अतएव द्रोण कथन में द्रोण के अत्यन्त साहचर्यक अर्द्धद्रोण आदि अवयवों का उसमे अन्तर्भाव हो जाता है यह अर्थापत्ति प्रमाण ही है तथा अर्थापत्ति अनुमान प्रमाण से पृथक् नहीं है । यथाहि-

“सम्भवो नाम द्रोणः प्रस्थ इत्युक्तेऽर्धद्रोणादीनां सन्निधानमवसीयते । इत्ययमपि साहचर्यकल्पनयाऽर्थापत्तिरेव । कथम् ? यस्मादुक्तपरिमाणे द्रव्ये द्रोणशब्दो वर्तते , न न्यूने नाऽधिके । तत्र द्रोण इत्युक्ते यदत्यन्तसहभुवां तदवयवानामन्यशब्दवाच्यानामपि सन्निधानं तदर्थापत्तिरेव । सा चाऽनुमानमित्युक्तम् ।”<sup>449</sup>

---

<sup>447</sup> ज.म., सां.का. ४ ।

<sup>448</sup> सां.तत्वकौ. सां.का. ५ ।

<sup>449</sup> यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४ ।

(घ) अभाव प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट- आचार्य माठर अभाव को चार प्रकार का मानते हैं । प्रागभाव - इतरेतराभाव - प्राध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव । यथा- इन्द्रदेव के न बरसने के कारण ब्रीहि का शोषण, इस प्रकार वृष्ट का अभाव सिद्ध होता है जो कि अनुमान प्रमाण का ही भेद है । यथाहि-

“अभावश्च प्रागितरेतरप्रध्वंसात्यन्ताभावभेदाच्चतुर्धा । यथा ब्रीहिशोषणदर्शनान् वृष्टो देव इति वृष्टेरभावं साधयति । सोऽप्यनुमानभेदः ।”<sup>450</sup>

आचार्य गौडपाद अभाव के भेद को प्रस्तुत करते हैं कि प्राग-इतरेतर- अत्यन्त और सर्व यह अभाव संज्ञक प्रमाण होता है । प्रागभावादि को दृष्टान्त के साथ प्रस्तुत करते हैं कि देवदत्त कुमार और यौवन है । इतरेतरभाव- यथा- पट में घट का घट में पट का अभाव । अत्यन्ताभाव जैसे गधे के शृङ्ग, बन्ध्या स्त्री का पुत्र, आकाश का पुष्प के सादृश्य । सर्वाऽभाव अर्थात् प्रध्वंसाभाव जैसे जले पट के सादृश्य । जैसे सूखे हुये धान को देखकर वृष्टि अभाव इस प्रकार अनेक प्रकार से अभाव है । यथाहि-

“अभावो नाम प्रागितरेतराऽत्यन्तसर्वाऽभावलक्षणः । प्रागभावो यथा - देवदत्तः कौमारयौवनादिषु । इतरेतराभावः - पटे घटाऽभावः । अत्यन्ताऽभावः - खरविषाणवन्ध्यासुतखपुष्पवदिति । सर्वाऽभावः - प्रध्वंसाभावो दग्धपटवदिति । यथा शुष्कधान्यदर्शनाद् वृष्टेरभावोऽवगम्यते । एवमभावोऽनेकधा ।”<sup>451</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि नहीं है यह अनुपलब्ध होने से वहा अभाव होता है । वहाँ घट शून्य प्रदेश में ही घटाभाव जो कि प्रत्यक्ष प्रमाण आदि से सिद्ध होने कारण अभाव प्रमाण भी इसी में सन्निविष्ट हो जाता है । यथाहि-

---

<sup>450</sup> मा.वृ., सां.का. ४ ।

<sup>451</sup> गौ.भा.सां.का. ४ ।

“नास्तीह घटोऽनुपलाभात् ' इत्यभावः । तत्र घटशून्यप्रदेशे एव घटाभावः , स च प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वान्न प्रमाणान्तरम् ।”<sup>452</sup>

आचार्य वाचस्पति मिश्र अभाव प्रमाण का प्रत्यक्ष प्रमाण में सन्निविष्ट करते हैं । उनके मत से घट का अभाव पृथ्वी के घट शून्यत्व परिणाम से पृथक् को वस्तु नहीं है । और वह परिणाम विशेष प्रत्यक्ष ही है । यथाहि-

“एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव । न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावे नाम । प्रतिक्षणं परिणामिणो हि सर्वमेव भावा ऋते चितिशक्तेः । स च परिणामभेद ऐन्द्रियकः, इति नास्ति प्रत्यक्षानवरुद्धो विषयो यत्राभावाह्वयं प्रमाणान्तरमभ्युपेयमिति ।”<sup>453</sup>

युक्तिदीपिकाकार अभाव का स्वरूप बतलाते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार वह्निवाह की सत्ता से वह्नि की सत्ता सिद्ध होती है उसी भाँति वह्निवाह के अभाव में वह्नि का अभाव सिद्ध होता है वही अभाव प्रमाण कहलाता है । इस तरह विरोधियों साहचर्य सङ्कल्पना को युक्तिदीपिकाकार अर्थापत्ति प्रमाण मानते हैं । यथाहि-

“अभावो नाम तद्यथा धूमस्य भावादोभावः प्रतीयते एवं धूमाभावादग्न्यभाव इत्ययं प्रतिद्वन्द्विसाहचर्यकल्पनयापत्तिमभिहितः । तत्र यदा व्यभिचारसाहचर्यकल्पना तदा प्रमाणाभाव एव । तद्यथाऽयोगुडाङ्गारादिषु धूमाभावो नारन्यभावः । यत्र तु क्वचिदे कान्तः स्यात् यथाऽकृतकत्वान्नित्य इति तवाऽनुमानम् । कथम् ? साहचर्योपपत्तेः । कृतकत्वानित्यत्ववत् ।”<sup>454</sup>

कुछ अन्यो के मत से अभाव का स्वरूप है यथा- चैत्र संज्ञक व्यक्ति का घर में नहीं है इस कथन से बोध होता है कि वह गृह से बाहर है यह ज्ञान होता है यही अभाव

---

<sup>452</sup> ज.म., सां.का. ४ ।

<sup>453</sup> सां.तत्वकौ. सां.का. ५ ।

<sup>454</sup> यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४ ।

कहलाता है। यहाँ गृह में चैत्र नामक व्यक्ति का अभाव गृह से बाहर होने ज्ञान का हेतु है और विरोधी साहचर्य की कल्पना से अर्थापत्ति ही माना जायेगा अभाव नहीं, अर्थापत्ति का पूर्व में ही अनुमान प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट किया जा चुका है। यथाहि-

“अन्ये तु अभावमन्यथा वर्णयन्ति । तद्यथा गेहे नास्ति चैत्र इत्युक्ते बहिरस्तीति सम्प्रत्ययो भवति , तत्र गेहाभावो बहिर्भावसम्प्रतिपत्तिहेतुरर्थान्तरापत्तिरेव प्रतिद्वन्द्व साहचर्यकल्पनया । कथम् ? यथैव हि दिवा न भने देवदत्तः पीन इत्यत्राऽभोजन प्रतियोगिनो मेदुरत्वस्योपलम्भादिवाप्रतियोगिनि काले रात्रौ भुजिरवसीयते । एवमिहापि गेहाभावाभिधानसामध्यत्तिप्रतियोगिनि विपर्ययः कल्प्यते । अन्यथा तु यद्यभाव एवाभि प्रेतः स्थानास्ति चैत्र एवेति ब्रूयात् । अर्थापत्तिश्चानुमानम् ।”<sup>455</sup>

(ङ) ऐतिह्य प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट- आचार्य गौडपाद और आचार्य माठर ऐतिह्य प्रमाण क दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि इस वट वृक्ष यक्षिणी रहती है ऐसा जनसामान्य लोग मानते हैं इससे ज्ञात हो जाता है कि वह विघ्नादि करेगी यह अनुमान ही है। यथाहि-

“ऐतिह्यं यथा अस्मिन् वटे यक्षिणी प्रतिवसतीति जनाः वदन्ति इत्युक्ते - सा विघ्नं करोति , धनादि यच्छतीति ज्ञानं , तदप्यनुमानमेव ।”<sup>456</sup>

तथा,

“ऐतिह्यं यथा - ब्रवीति लोको , यथा अत्र वटे यक्षिणी प्रतिवसतीत्येव ऐतिह्यम्

।”<sup>457</sup>

---

<sup>455</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४ ।

<sup>456</sup> मा.वृ., सां.का. ४ ।

<sup>457</sup> गौ.भा.सां.का. ४ ।

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ऐतिह्य प्रमाण को प्रस्तुत करते हैं यथा 'इति ह वै वैश्रवणः'  
यह ऐतिह्य प्रमाण आसवचन ही है अनन्तर प्रमाण नहीं है। 'इति ह' यह निपात उपदेश  
परम्परा से है इति ह ही ऐतिह्य है स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय हुआ है। यथाहि-

'इति ह वै वैश्रवणः' इत्यैतिह्यम् । एतदासवचनमेव, न प्रमाणान्तरम् । 'इति ह'  
इति निपातसमुदाय उपदेशपारम्पर्ये वर्तते । इति ह एवैतिह्यम् । स्वार्थे ष्यञ् ।<sup>458</sup>  
आचार्य वाचस्पति मिश्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि 'इस तरु पर यक्ष रहता है ऐसा  
बुजुर्ग जन कहते हैं' इस प्रकार की परम्परागत जनश्रुति ऐतिह्य प्रमाण कहलाता है मूल  
वक्ता का पता न होने से यह प्रमाण नहीं है, क्योंकि मूल वक्ता के ज्ञात न होने से वह  
ऐतिह्य सन्दिग्ध होता है सन्दिग्ध ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता है। यदि निश्चित रूप से  
ज्ञात हो जाए इस वाक्य का कोई आस पुरुष है तब यह शब्द प्रमाण ही है अतः यह  
सिद्ध हो जाता है कि ऐतिह्य प्रमाण कोई पृथक् प्रमाण नहीं है। यथाहि-

“यच्च-अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमात्रमिति होचुर्वृद्धाः-इत्यैतिह्यम्; यथा—  
'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति न तत् प्रमाणान्तरम्, अनिर्दिष्टप्रवक्तृत्वेन सांशयिकत्वात्।  
आसवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम एव । इत्युपपन्नम्-‘त्रिविधं प्रमाणम्’ इति ।”<sup>459</sup>  
युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि 'इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः' इस तरह ऐतिह्य संज्ञक पृथक्  
प्रमाण की कल्पना की जाती है। वह भी शब्द प्रमाण से पृथक् नहीं है क्योंकि ऐतिह्य  
प्रमाण में भी किसी विशेष वक्ता की अपेक्षा होती है। अतः वक्ता की अपेक्षा होने से यह  
प्रमाण भी शब्दप्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट है। यथाहि-

“यत्तु खल्विति ह उवाच याज्ञवल्क्य इत्येतदैतिह्यं नाम प्रमाणान्तरमुपकल्प्यते  
तदपि वक्तृविशेषापेक्षत्वान्न शब्दादर्थान्तरम् ।”<sup>460</sup>

---

458 ज.म., सां.का. ४ ।

459 सां.तत्वकौ. सां.का. ५ ।

460 यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४ ।

(च) प्रतिभा और चेष्टा प्रमाण का त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट- आचार्य गौडपाद और आचार्य माठर प्रतिभा प्रमाण को प्रस्तुत करते हैं - विन्ध्य पर्वत से दक्षिण भाग की तरफ़ एवं सह्य पर्वत से उत्तर की ओर समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का जो भाग है वह मनोरम है इस कथन से ज्ञात हो जाता है कि वहाँ सुन्दर गुण हैं इस प्रकार की प्रतिभा का उद्भूत होता है ऐसा जो ज्ञान सम्पन्न पुरुष का जो ज्ञान है वह भी अनुमान प्रमाण ही है। यथाहि-

प्रतिभा यथा- दक्षिणेन तु विन्ध्यस्य सह्यस्य तु यदुत्तरम् ।

पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः ॥

इत्युक्ते तत्र शोभना गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते । प्रतिभा जानतां ज्ञानम् । साऽप्यनुमानमेव ।<sup>461</sup>

तथा

“प्रतिभा यथा

दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य यदुत्तरम् ।

पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः ॥

एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते । प्रतिभा च जानतां ज्ञानमिति ।”<sup>462</sup>

आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि उसमें, उस गांव अथवा नगर में ऐसा होता है, यह जानकर वहाँ क्या क्या होगा यह प्रतिभा उत्पन्न होता है । (यहाँ टीकाकार स्पष्ट करते हैं कि हमेशा यह प्रमाण नहीं होगा जब सत्य होगा तब त्रिविध प्रमाणान्तर्गत सन्निविष्ट होगा। असत्य में अवीकार होगा ।) जब क्षीण दोष हो, अर्थात् क्षीणदोष व्यक्ति हो, तो भिन्न प्राप्त होने से, प्रत्यक्ष को जाएगा । जब अक्षीणदोष व्यक्ति हो तो वितथत्व से

---

<sup>461</sup> मा.वृ., सां.का. ४ ।

<sup>462</sup> गौ.भा.सां.का. ४ ।

मिथ्या होने प्रमाण रहित है अर्थात् अप्रमाण है । सिद्ध होता है । जो भी कभी कभी होने वाला सहमतिजन्य अर्थ है वो भी कदाचित्का से इस निमित्त से उद्यत होने वाला अनुमान ही है कोई पृथक् प्रमाण नहीं । यथाहि-

“तत्र ग्रामे नगरे वा वर्तत इति प्रतिभोत्पन्ना । तत्र यदा क्षीणदोषस्य , तदाभिज्ञप्राप्तत्वात् प्रत्यक्षमेव । तस्याक्षीणदोषस्य वितथत्वादप्रमाणम् । याप्यविसम्बादिनी कादाचित्का , साऽपि कादाचित्कादेव निमित्ता दुत्पद्यमानाऽनुमानमेव न प्रमाणान्तरम् ।”<sup>463</sup>

आचार्य माठर कहते हैं कि कुछ लोगों द्वारा चेष्टादि को भी प्रमाण माना गया है उसे खण्डन करते हैं । पिपासु व्यक्ति का अञ्जलि से , एवं क्षुधातुर व्यक्ति क पञ्चाङ्गुलि के संयोग के द्वारा, बड़ी बड़ी आँखें दिखाने और तर्जनी के उत्तोलन से निर्बल व्यक्ति के कोप का जो ज्ञान होता है वह सब अनुमान प्रमाण ही है । यथाहि-

“किं च- (१) (कैश्चित् प्रमाणतया परिगृहीतं चेष्टादिकं निरस्यति ) तृषितस्याञ्जलिना , क्षुधितस्य पञ्चाङ्गुलियोगात् , पृथुलाक्षि-प्रभृतिदर्शनात् दुर्बलस्य , तर्जनीपङ्कदर्शनात् ? ज्ञानमित्याद्यनुमानमेव ।”<sup>464</sup>

युक्तदीपिकाकार प्रतिभा को इस प्रकार बतलाते हैं कि इस अनादि संसार में सुर मानव पशुपक्षी इत्यादि को पूर्वजन्म की कामनाओं की अपेक्षा से स्त्री आदि भिन्नरहित बाह्य विषय के प्रति यथाक्रम कुणप, कामिनी तथा भक्ष्य पदार्थ आदि के आकारों में पृथक्-पृथक् प्रतीतियां होती हैं उस ज्ञान में भी प्रतिभा ही हेतु हैं । कहा भी गया है कि यथा अर्थ को न समझते हुये मात्र वाक्य से ही अभ्यास के कारण ज्ञान हो जाता है उसी तरह अपनी प्रतीति के अनुहार से अनेक प्रकार की प्रतिपत्ति उद्भूत हो जाती है । आशय यह

<sup>463</sup> ज.म., सां.का. ४ ।

<sup>464</sup> तत्रैव, मा.वृ., सां.का. ४ ।

है कि जिस सुखादि विषय की आवृत्ति की है उसे अर्थ बोध के बिना भी मात्र शब्द से ही उस सुखादि का ज्ञान हो जाता है यथा- यहाँ सिंह रहता है इस कथन से बाह्य अर्थ बोध के बिना भी मात्र अभ्यास होने से ही कम्प पसीना इत्यादि का प्रादुर्भाव हो जाता है। यथाहि-

“योऽयमनादौ संसारे देवमनुष्यतिरश्चामभिन्नेऽर्थे बाह्ये स्त्र्यादौ प्रत्यये पूर्वाभ्यास वासनापेक्षः कुणपकामिनीभक्ष्याद्याकारभेदभिन्नप्रत्यय इतिकर्तव्यताकमुत्पद्यते सा हि प्रतिभा। तथा चोक्तम् -

यथाभ्यास हि वाक्येभ्यो विनाप्यर्थेन जायते।

स्वप्रत्ययाऽनुकारेण प्रतिपत्तिरनेकधा।।

येन हि योऽर्थोऽभ्यस्तस्सुखादित्वेन तस्य विनाऽपि तेनार्थेन शब्दमात्रात् प्रति पत्तिरुत्पद्यते। तद्यथा व्याघ्रोऽत्र प्रतिवसतीत्युक्ते विनाऽपि बाह्येनार्थेनाभ्यासवशादेव स्वेदवेपथुप्रभृतयो भवन्ति।”<sup>465</sup>

टीकाकार (युक्तिदीपिकाकार) के मत से प्रतिभा ज्ञान की प्रत्यक्ष (दृष्ट) आदि प्रमाणों से अतिरिक्त रूपों में सिद्धि नहीं होती है क्योंकि पूर्वजन्म की वासना की आक्षेप सहित प्रतीति ही प्रतिभा है तो यह प्रत्यक्ष (दृष्ट), अनुमान और आप्त वचन ही है क्योंकि इनके बिना प्रतिपत्ति रूप कोई उपलब्ध नहीं होता है। यथाहि-

“उच्यते - प्रतिभायाः दृष्टादिव्यतिरेकेण रूपान्तरानुपपत्तेः। अवचनमित्यनुवर्तते। यदि पूर्वाभ्यासवासनापेक्षः प्रत्ययः प्रतिभेत्यभ्युपगम्यते, तेन तर्हि असौ प्रत्यक्षमनुमानमाप्तवचनं चेत्येतदापन्नम्।”<sup>466</sup>

युक्तिदीपिकाकार चेष्टा को स्पष्ट करते हैं कि व्यक्ति के तात्पर्य के सूचक उदरताडन अञ्जलीकरण आदि शरीर का व्यापार ही चेष्टा कही जाती है यह बुभुक्षा इत्यादि दृष्ट

---

<sup>465</sup> यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४।

<sup>466</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४।

रहित भावों का प्रतिपादन करते हैं। इसी कारण प्रमाण कहे जाते हैं। चेष्टा वास्तविक रूप से अनुमान प्रमाण ही है क्योंकि भोजन आदि का सहचर भूत व्यापार (उदरताडन इत्यादि) यदि अपने सहचारी (भूख आदि) का ज्ञान कराते हैं तो अनुमान के अतिरिक्त अन्य प्रमाण नहीं माना जा सकता है। यथाहि-

“चेष्टा नाम अभिप्रायसूचकः कश्चिदेवोदरताडनाञ्जलिकरणादिः शरीरव्यापारः। स हि बुभुक्षादीन्यप्रतीयमानानि प्रतिपादयतीति प्रमाणमित्युच्यते। स चानुमानमेव।”<sup>467</sup>

---

<sup>467</sup> तत्रैव, यु.दी.द्वि.आ. सां.का. ४।

उपसंहार

## उपसंहार

---

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन में प्रमाण मिमांसा को ही ज्ञान मीमांसा कहते हैं। साङ्ख्य दर्शन के अनुसार ज्ञान बुद्धि का धर्म (वृत्ति) है। साङ्ख्यशास्त्र में पुरुष एवं प्रकृति यह दो निरवग्रह परम तत्त्व हैं। इन निरवग्रह तत्त्वों में पुरुष आत्मतत्त्व है, चित्स्वरूप है, गतिहीन (अचल) और चेतन तत्त्व है। यह न ज्ञाता न कर्ता न भोक्ता है। ज्ञान सुखादि बुद्धि का धर्म है बुद्धि चेतन रहित और जड़ प्रकृति से उद्भूत है। पुरुष केवल दृष्टा है, परन्तु निष्क्रिय है। तथा प्रकृति चेतन रहित है, परन्तु सक्रिय है ज्ञान चेतन रहित बुद्धि की वृत्ति है जो विषयाकार रूप में परिणयन कर जाती है। बुद्धि पुरुष के सम्पर्क से चेतन हो जाती है और विषयों की ज्ञाता कहलाती है। इस तरह ज्ञान अचेतन बुद्धि का परिणाम है। पुरुष चेतन तो है, परन्तु ज्ञाता नहीं। इसका कारण यह है कि ज्ञान के लिए परिणाम की आवश्यकता है और पुरुष अपरिणामी है। बुद्धि ज्ञाता नहीं हो सकती, क्योंकि यह परिणामी तो है परन्तु अचेतन तथा जड़ है। साङ्ख्यशास्त्र के बुद्धि-वृत्ति रूप ज्ञान के विरुद्ध कई सारे आक्षेप प्रस्तुत किए जाते हैं जो निम्न हैं।

- (क) साङ्ख्यशास्त्र के मुताबिक पुरुष शुद्ध दृष्टा है। परन्तु दृश्य विषय व दर्शन कार्य के अभाव में दृष्टा का स्वरूप सुस्पष्ट नहीं हो सका।
- (ख) साङ्ख्यशास्त्र की मान्यता में विरोध स्पष्ट है कि पुरुष चेतन है एवं चेतन का कोई विषय नहीं, विरोधी है क्योंकि यदि चेतना है तो अवश्य ही साविषयक होगी। जबकि साङ्ख्य में चेतना को निर्विषयक माना गया है।
- (ग) साङ्ख्य मत में ज्ञान चेतना रहित बुद्धि का परिणाम है अतः ज्ञान भी अचेतन ही होगा परन्तु ज्ञान को समस्त दार्शनिक चेतन मानते हैं। अचेतन ज्ञान तो वदतो व्याघात है।

(घ) चेतनारहित वस्तुयें दिशा में स्थित रहती हैं व उनका कुछ आकार होता है। परन्तु ज्ञान किसी प्रदेश में स्थित नहीं तथा वह निराकार भी होता है। अतः ज्ञान को अचेतन और जड नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार साङ्ख्य मत की सबसे बड़ी भूल ज्ञान को बुद्धि की वृत्ति एवं बुद्धि को चेतनारहित मानना है। अचेतनतत्त्व तो ज्ञान शून्य जड है और जड ज्ञान नहीं।

उपर्युक्त इन्हीं आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबन्ध में टीका परम्परा के अध्ययन से किया गया है। साङ्ख्यशास्त्र प्रमुखतया प्रमेय शास्त्र ही है अतः प्रमेयों की सिद्धि हेतु प्रमाणों की परिचर्चा अनिवार्य हो जाती है। तथा तत्त्व के अस्तित्व और स्वरूप निर्धारण हेतु प्रसङ्गिक भी है। साङ्ख्यशास्त्र त्रिविध प्रमाण को ही मानता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त। इन्हीं प्रमाणों के अन्तर्गत अन्य सभी प्रमाण सभी प्रमाण सन्निविष्ट है।

प्रथम अध्याय साङ्ख्यशास्त्र में प्रमेय तत्त्वों के प्रमुखतया वर्णन प्राप्त होने के कारण सर्वप्रथम प्रमेय तत्त्वों का चतुर्विध वर्गीकरण किया गया है जो कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थः विकृतिरेव, कश्चित्प्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः के रूप में टीकाकारों के मत का निरूपण किया गया है। व्यक्त, अव्यक्त, और ज्ञ प्रमेय तत्त्वों का निरूपण किया गया। जिसमें व्यक्त तत्त्वान्तर्गत महत्, अहङ्कार, षोडशक गण और पञ्चमहाभूतों का टीकाकारों के मत का निरूपण है। अव्यक्त और ज्ञ तत्त्वान्तर्गत मूलप्रकृति और पुरुष तत्त्व का निरूपण है।

द्वितीय अध्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण को टीकाकारों के मत से निरूपण किया गया है जिसमें प्रत्यक्ष प्रमा, प्रत्यक्ष के भेद सविकल्पक और निर्विकल्पक का निरूपण है। एवं प्रत्यक्ष ज्ञान में बाधक तत्वों को भी उद्धृत किया गया है। निषकर्ष में कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष पद को सज्ञा एवं विशेषण रूप में व्यवहृत है यथा - प्रत्यक्ष ज्ञान यह पद सज्ञा वाला है और 'इदं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' वाक्यांश में प्रत्यक्षम् पद विशेषण के रूप में है।

तृतीय अध्याय में अनुमान प्रमाण लक्षण व उसके भेदों का निरूपण टीकाकारों के मत से किया गया है। साङ्ख्य्याचार्यों ने त्र्यावयव (प्रतिज्ञा, हेतु व दृष्टान्त) को स्वीकार किया है। तथा अनुमान प्रमाण के तीन भेदों (पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट) को मानते हैं। तत्त्वकौमुदीकार ने पूर्ववत् व सामान्यतोदृष्ट अनुमान को वीतानुमान का भेद माना है। शेषवत् अनुमान को अवीत अनुमान का भेद माना है। जबकि युक्तिदीपिकाकार ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान के ही वीतावीत भेद स्वीकार किये हैं।

चतुर्थ अध्याय में आप्त प्रमाण का निरूपण टीकाकारों के मत से किया गया है। जिसमें आप्त वचन प्रमाण माना है। आप्त वचन के रूप में ब्रह्मादि आचार्य और श्रुति वचन, तर्क धर्मशास्त्र, इतिहास पुराण व शिष्ट और दोष रहित विद्वान को ग्रहण किया गया है।

पञ्चम अध्याय में प्रमाणान्तरभाव का निरूपण किया गया है। जिसमें अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, प्रतिभा, ऐतिह्य, उपमान, प्रतिभा व चेष्टादि प्रमाणों का त्रिविध प्रमाणों में प्रमाणान्तर्भाव किया गया है।

# सन्दर्भग्रन्थसूची

## सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

---

### प्राथमिक स्रोत

- अन्नभट्ट - तर्कसंग्रहः व्याख्या० आनन्द झा, प्रकाशक कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगरम्, दरभंगा, प्रथम संस्करण, १९८४.
- अन्नभट्ट - तर्कसंग्रहदीपिका, सम्पा० सत्कारि शर्मा वंगीय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज कार्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६९.
- आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८८.
- ईश्वरकृष्ण - साङ्ख्यकारिका, (व्याख्या.) राकेश शास्त्री, संस्कृत ग्रन्थागार प्रकाशन, दिल्ली, २००४.
- कपिल - सांख्यसूत्रम् सम्पा० रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, संवत्, २००४.
- श्री शंकराचार्य-ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, (व्याख्या.) स्वामी सत्यादन्द सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, २०१६.
- केशवमिश्र - तर्कभाषा, सम्पा०, श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुषाभ बाजार, मेरठ, षष्ठ संस्करण, १९८४.
- कुमारिलभट्ट - श्लोकवार्तिकम्, सम्पा० गङ्गा सागर राय, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९९३.

- श्रीमच्छबर स्वामि – शाबरभाष्यम्, (व्याख्या.) गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, २००४.
- श्रीपार्थसारथीमिश्र – शास्त्रदीपिका, (व्याख्या.) गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २०१४.
- महर्षी गौतम – न्यायसूत्रम् , सम्पा० महेश झा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, २०१३.
- धर्मराजध्वीन्द्र – वेदान्तपरिभाषा, सम्पा० प्रो. पारसनाथद्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २०१४.
- जयन्तभट्ट – न्यायमञ्जरी, (व्याख्या.) सूर्यनारायणशुक्ल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७१.
- महर्षी गौतम – न्याय दर्शन (वात्स्यायनभाष्यम्), (व्याख्या.) आचार्य दुण्डिराजशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी.
- गौडपाद - गौडपाद भाष्य (सांख्यकारिका अथवा सांख्ययोग) प्रकाशक तुकाराम तातिया, इण्डोलॉजिकल बुक हाऊस, दिल्ली-वाराणसी, १९७८.
- पतञ्जलि - पातञ्जलयोगदर्शन, व्याख्या० ब्रह्मलीन मुनि, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७०.
- पाणिनि - अष्टाध्यायी, सम्पा० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९८२.
- माठर - माठरवृत्ति (सांख्यकारिका) थानेशचन्द्र उप्रेती, बुटाला एण्ड कम्पनी, दिल्ली, १९८१.

- युक्तिदीपिका - सम्पा०, रामचन्द्र पाण्डेय मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६७.
- विज्ञान भिक्षु - साङ्ख्यप्रवचन भाष्य, नेशनलपब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९६९.
- गौडपाद - गौडपाद भाष्य (साङ्ख्यकारिका) ,सं. विमला कर्णाटक, चौखम्भा ओरियन्टल, वाराणसी, १९७६.
- विष्णुप्रसाद शर्मा - माठरवृत्ति एवं जयमङ्गला सहित (साङ्ख्यकारिका), चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९७०.
- विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी (सम्पा.) - सांख्यसंग्रहः, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६९.
- ईश्वरकृष्ण- साङ्ख्यकारिका (सान्वयानुवाद-माठरकृत 'माठरवृत्ति' - गौडपादकृत 'गौडपादभाष्य' शङ्करभगवत्पादकृत 'जयमङ्गला' - वाचस्पतिमिश्रकृत 'तत्त्वकौमुदी' - ईश्वरकृष्णकृत 'युक्तिदीपिका' - 'नरहरि' नामधेयपर्यालोचना विस्तृत प्रस्तावनासहिता) डॉ.सुधांशु कुमार षडङ्गी (व्याख्या.), चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २०१३.

### द्वितीयक स्रोत

- आद्याप्रसाद मिश्र सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद.
- अनिरुद्ध - अनिरुद्धवृत्ति (सांख्यसूत्र) सम्पा० रामशंकर भट्टाचार्य, प्राच्य भारतीय प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी, प्रथमसंस्करण १९६४

- पतञ्जलि - योगसूत्र (पातञ्जयोगदर्शनम्), सम्पा० श्री नारायण मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९८१.
- स्वामी आत्मस्वरूप (सम्पा.) - तत्त्वकौमुदी एवं विद्वत्तोष्णी सहित (सांख्यकारिका), गुरुमण्डलाश्रम, हरिद्वार, १९३१.
- रामशंकर भट्टाचार्य - ज्योतिष्मतीव्याख्या, (सांख्य-तत्त्वकौमुदी) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९७६.
- बालराम - विद्वत्तोष्णी (सांख्यकारिका), प्रकाशक स्वामी आत्मस्वरूप उदासीन, गया, संवत् १९८७.

### Primary sources

- Sarvasiddhanta-sangrah, sankaracharya, with English translation of M. Rangachaarya, New Delahi, Ajaya Book services, first edition 1983.
- D0 ishvarakrishna, jayamangala of sankaracharya, edit by haridatta sharma, calcatta , calcatta oriental saries no.19
- Sakhya-tattva-kaumudi, vachaspati misra, samkhya-tattva-vibhakara of vamshidhara Mishra, edited by shriramshastri, Varanasi, Chaukhamba Sanskrit Series Office, second edition 2001

- Samkhya-sangraha, samkhya-tattva-vivecana of srisimananda, samkhtattvayatharthadipana of sribhavaganesa, sarvopakarinyabhidhakapilasutratika, samkhyasutra-vivaranakhyakapilasutravrttih, sritattvasamasasutravrttih, samkhyarthatattvapradipika of Yajuvit Kesava, samkhyarthatattvapradipika of Kavirajayati, tattvamimamsa of krisnamisra and samkhyaparibhasha, Edited by vindhyesvariprasadadvivedi, Varanasi, chaukhamba Sanskrit siries office, second edtion, 1969

### Secondary sources

- Bahadur, K.P. wisdom of samkhya, new delhi, sterling,1978.
- Chakravarti, Pulinbihari, Origin and Development of the Samkhya System of Thought, Delhi Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., Second Edition, 1975.
- Chandra, Laxmi, Critical Study of the Commentaries on the Sāmkhyakārikā, Delhi, University of Delhi, Faculty of Arts Department of Sanskrit, 1974.

- C. Kunhan Raja, Sāmkhyakārikā of Íśvarakrsṇa, A philosopher's Exposition, Hoshiyarpur, Vishwesvarananda Research Institute, 1963.
- Das, Kalicharan, Concept of Personality in Samkhya-Yoga and the Gita, Gauhati, Department of Publication, Gauhati University, 1975.
- M., Takakusu, Sāmkhyakārikā, Studied in the Light of its Chinese Version, Tr. From French into English by S. S. Suryanarayana Sastri,
- Sovani, V.V., Critical Study of Sāmkhya System, on the Line of Sāmkhyakārikā, Sāmkhyasūtra, and Their Comms., Pune, Poona Oriental Series 11, 1935.

#### कोश-ग्रन्थ

- शब्दकल्पद्रुम (भाग-५), देव. स्यार राजा राधाकांत देव, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी : १९६७
- वाचस्पत्यम् (भाग-६), चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, पं.सं.१४, वाराणसी : १९६९
- संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली : १९८९

- भारतीय दर्शन परिभाषा कोश,डॉ.दीनानाथ शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली :  
१९९३

परिशिष्टम्



## अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

( A member of FISP )



### प्रमाण-पत्र / Certificate

#### केन्द्रीय विषय - योग की विभिन्न धाराएं

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/श्रीमती/डॉ./प्रो. .... कल्लू - संस्कृत विभाग

स्वैची बौद्ध-भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय -

वारुणा, रामसेन ..... ने शासकीय हमीदिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, भोपाल के दर्शनशास्त्र विभाग द्वारा (म.प्र.)

आयोजित त्रिदिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन में सहभागिता की तथा दार्शनिक विमर्श किया। संगोष्ठी / व्याख्यानमाला /

विभागीय पत्र वाचन में प्रस्तुत आपके शोध-पत्र का शीर्षक था " साइ-रुय शास्त्रीय अनुमान प्रमाण

स्वरूप विमर्श : (साइ-रुयकारिका की टीकाओं के आलोच में) " ।



अध्यक्ष

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

आयोजन सचिव

64 वां अधिवेशन

समाध्यक्ष

64 वां अधिवेशन

# अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्



## प्रमाण-पत्र

प्रो. सोहनराज लक्ष्मी देवी तातेड़ ( जोधपुर, राज. )  
शोध-पत्र पुरस्कार  
2019

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् के 64 वें अधिवेशन के अवसर पर, जो शासकीय हमीदिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, भोपाल (म.प्र.) के तत्वावधान में सम्पन्न हो रहे हैं, आज दिनांक 21 अक्टूबर 2019 को ..... केन्द्र, सोनी उनके शोध पत्र 'सांख्यशास्त्रीय अनुमान प्रमाण स्वरूप विमर्श' के लेखन हेतु प्रदान किया जाता है।

उद्योति (विरुप)

महामंत्री  
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्



विमलशर्मा

अध्यक्ष  
अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद्, 64 वां अधिवेशन

19 से 21 अक्टूबर 2019, शासकीय हमीदिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, भोपाल



The Report is Generated by DrillBit Plagiarism Detection Software

---

### *Submission Information*

|                     |                      |
|---------------------|----------------------|
| Author Name         | Kallu                |
| Title               | Thesis               |
| Submission/Paper ID | 206800               |
| Submission Date     | 06-Jan-2021 01:02:03 |
| Total Pages         | 381                  |
| Total Words         | 31178                |

### *Result Information*

|               |        |
|---------------|--------|
| Language      | Hindi  |
| Document Type | Thesis |
| Similarity    | 0 %    |
| Unique        | 100 %  |



## DrillBit Similarity Report

0

SIMILARITY %

4

MATCHED SOURCES

A

GRADE

A-Satisfactory (0-10%)

B-Upgrade (11-40%)

C-Poor (41-60%)

D-Unacceptable (61-100%)

| Sl.No | LOCATION | MATCHED DOMAIN                | %  | SOURCE TYPE |
|-------|----------|-------------------------------|----|-------------|
| 1.    | 3        | hi.wikipedia.org              | <1 | Internet    |
| 2.    | 2        | www.transliterator.org        | <1 | Internet    |
| 3.    | 4        | hi.wikipedia.org              | <1 | Internet    |
| 4.    | 1        | vichaarsankalan.wordpress.com | <1 | Internet    |